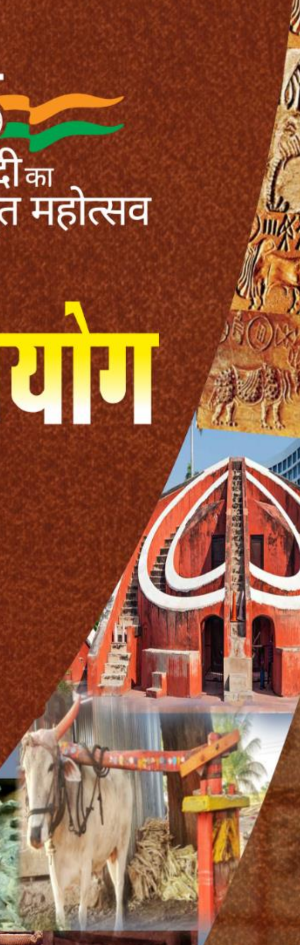

भारतीय ज्ञान-विज्ञान परम्परा एवं प्रयोग

अभ्यास पुस्तिका

वेद-विभूषण - I वर्ष / उत्तरमध्यमा - I वर्ष / कक्षा 11वीं

महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेद संस्कृत शिक्षा बोर्ड

(शिक्षा मन्त्रालय भारत सरकार द्वारा स्थापित एवं मान्यता प्राप्त)

ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद् वर्षाः स्विते नो दधात। आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद् वः शरणे स्याम ॥

कलुषं कटुकं लवणं विरसं सलिलं यदि वाशुभगन्धि भवेत्। तदनेन भवत्यमलं सुरसं सुसुगन्धि गुणैरपरैश्च युतम् ॥

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्-पक्षा या निमीयते। अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवाशये॥

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः । सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्।

शतमाश्वा हिरण्ययाः शतं रथ्या हिरण्ययाः। शतं कुथा हिरण्ययाः शतं निष्का हिरण्ययाः॥

मात्राशी स्यात्। आहारमात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी।

सुसस्याः कृषीस्कृधि।

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म ।

अपो याचामि भेषजम् ।

शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ।

नमो वृक्षेभ्यः।

महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन (म.प्र.)

(शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार)

Phone : (0734) 2502266, 2502254,

E-mail : msrvvpujn@gmail.com, website - www.msrvvp.ac.in

अध्याय 1

ग्रह नक्षत्र एवं खगोल विज्ञान

1.1 भारतीय खगोल विज्ञान का आरम्भ -

तिथियों का ह्रास - वृद्धि -

भारत में पहली खगोलीय वस्तु 12 हजार वर्ष पूर्व अण्डमान द्वीप से प्राप्त हुई। यह लकड़ी की बनी कैलेण्डर स्टिक थी, जिस पर अमावस्या से पूर्णिमा तक चन्द्रमा की डिस्क की स्पष्ट वृद्धि (वैक्सिंग) और पूर्णिमा से अमावस्या तक चन्द्रमा की ड़िस्क की स्पष्ट कमी (वेनिंग) अंकित थी। सिन्धु घाटी सभ्यता के शहर मोहनजोदड़ो से खुदाई के दौरान रिंग स्टोन प्राप्त हुआ जिस पर ड्रिल किए गए छोटे छिद्रों की पंक्तियाँ थी जो वर्ष में सूर्योदय के अलग-अलग समय को बताते थे।

ऋग्वेद् में एक वर्ष को 360 दिनों का माना गया जिसे बारह बराबर भागों में विभाजित किया गया। इस मन्त्र से स्पष्ट होता है कि हमारे ऋषियों ने सूर्य के बारह अरों वाले पहिए को देखकर एक वर्ष को बारह बराबर भागों (मासों) में विभाजित किया इस मन्त्र से हमें कालगणना का आधार प्राप्त हुआ।

षड्ऋतु -

ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद् वर्षाः स्विते नो दधात।
आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद् वः शरणे स्याम ॥

(अथर्व. 6.55.2)

इस अथर्ववेदीय मन्त्र में वर्ष को 6 ऋतुओं में विभाजित किया गया है। प्रत्येक ऋतु 2 माह की थी।

नक्षत्र -

अथर्ववेद में 27 नक्षत्रों के बारे में भी बताया गया हैं।

यानि नक्षत्राणि दिव्यऽन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु॥

अथर्व. 19.8.1

इस अथर्ववेदीय मन्त्र में अन्तरिक्ष में उदित होने वाले विभिन्न नक्षत्रों के बारे में बताया गया है । नक्षत्र हमें सुख प्रदान करते हैं इस प्रकार का उल्लेख है।

लगध ऋषि का वेदाङ्ग ज्योतिष -

वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान का समय निश्चित करने के लिए लगध ऋषि द्वारा रचित वेदाङ्ग ज्योतिष ग्रन्थ का उपयोग किया जाता था, यह पहला भारतीय वैज्ञानिक पाठ है। भारतीय विद्वानों ने 12 वीं शताब्दी तक नक्षत्र दिवस की लम्बाई ज्ञात कर ली थी।

नक्षत्र दिवस - पृथिवी द्वारा किसी भी तारे के सम्बन्ध में एक चक्कर पूरा करने में लगा समय नक्षत्र दिवस कहलाता है। यह समय 23 घण्टे 56 मिनट 4.6 सेकेण्ड प्राप्त हुआ हैं। जबकि गणना करने पर समय 23 घण्टे 56 मिनट 4.091 सेकण्ड प्राप्त हुआ । दोनों मानों के बीच छोटा अन्तर है इतना सटीक समय आरम्भिक काल में प्राप्त कर लिया था।

अधिकमास -

वेदाङ्ग ज्योतिष में अधिक मास का उल्लेख प्राप्त होता हैं। सौर वर्ष और चन्द्र वर्ष में सामंजस्य स्थापित करने के लिए हर तीसरे वर्ष एक चन्द्रमास की वृद्धि कर दी जाती है जिसे अधिकमास कहते हैं।

1.2 सिद्धान्त काल -

यह समय भारतीय खगोलिकी का स्वर्ण युग माना जाता है।

1. **आर्यभट्ट प्रथम** - खगोलशास्त्र का क्रमबद्ध इतिहास आर्यभट्ट के समय से मिलता है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ "**आर्यभट्टीय**" में समय की इकाईयों तथा आकाशीय पिण्डों का वर्णन हैं। इनके ग्रन्थ में सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, शनि, गुरु, मंगल, शुक्र, बुध के महायुगीय भगणों की संख्या भी दी है।

इसमें तारों के स्थिर होने तथा पृथिवी के घूर्णन के कारण दिन और रात होने की घटना का

उल्लेख मिलता हैं। आर्यभट्ट ने सूर्य और चन्द्रमा के ग्रहण की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की तथा पृथिवी का व्यास 1050 योजन बताया।

1 योजन ≅ 13.6 किलोमीटर

2. **वराहमिहिर** - वराहमिहिर द्वारा रचित पञ्चसिद्धान्तिक ग्रन्थ का खगोलविज्ञान के क्षेत्र में विशेष महत्त्व हैं। इसमें वर्णित पाँच सिद्धान्तों के अध्ययन से स्पष्ट पता चलता है कि किस प्रकार भारतीय ज्योतिष धीरे-धीरे विकसित होकर सूर्य सिद्धान्त के रुप में परिवर्तित हुआ। इस ग्रन्थ में पाँच वर्ष का एक युग माना गया था तथा सूर्य आदि आकाशीय पिण्ड सदा समान वेग से चलते हुए माने जाते थे और दिन समान रुप से बढता हुआ माना जाता था। इसमें सूर्य-चन्द्रमा की स्थिति नक्षत्रों से बताई गई हैं। उत्तरायण का आरम्भ सूर्य के धनिष्ठा नक्षत्र के आदि बिन्दु पर था। इन सब में सूर्य व चन्द्रमा की स्पष्ट गतियों को बताया गया है। त्रैलोक्य संस्थान नामक अध्याय में कहा है कि पञ्चमहाभूतों से बनी पृथिवी गोल तारों के पञ्जर (ठठरी) में उसी प्रकार स्थित है, जिस प्रकार चुम्बकों के बीच लोहा है। इसमें पृथिवी और अन्तरिक्ष का गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त, पृथिवी के अक्षभ्रमण, चन्द्रमा की कलाओं के घटने व बढने का वर्णन हैं।

3. **ब्रह्मगुप्त** - ब्रह्मगुप्त द्वारा रचित ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त के मध्यमाधिकार में ग्रहों की मध्यम गति की गणना, स्पष्टाधिकार में ग्रहों की स्पष्ट गति निकालने की रीति, ज्या और त्रिज्या का मान निकालना वर्णित हैं। त्रिप्रश्नाधिकार में दिशा, देश और काल निकालने की विधि बताई गयी है तथा सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण निकालने की रीति वैज्ञानिक रुप से बतायी गयी है। उदयस्ताधिकार में चन्द्रमा, मंगल, बुध, गुरू, शुक्र और शनि ये सूर्य के कितने पास जाने पर अस्त हो जाते हैं और कितनी दूरी पर उदय होते हैं। इसका वर्णन है। चन्द्रच्छायाधिकार में उदय और अस्त होते हुए चन्द्रमा के वेध से छाया आदि का ज्ञान करने की रीति हैं।

ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त से हमें कई खगोलीय उपकरणों के बारे में जानकारी मिली उनमें से एक पानी की घडी जिसे घटी यन्त्र भी कहते हैं, जिसमें सबसे नीचे एक छोटा छिद्र होता है इसे पानी में रखने पर ठीक 24 मिनट बाद यह पानी में डूब जाती है तथा अन्य उपकरणों में एक लम्बवत् रखी हुई छोटी छडी जो अपनी छाया की गति के अध्ययन के लिए प्रयुक्त की जाती है

तथा एक आधा - डिस्क तथा कैंची की तरह दिखने वाला कम्पास आदि का भी खगोलीय घटनाओं के अध्ययन के लिये उपयोग किया जाता था।

4. **भास्कराचार्य** - इन्होनें चार प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की जो निम्न हैं - सिद्धान्त शिरोमणि, लीलावती, बीजगणित और करणकुतूहल इनमें से सिद्धान्त शिरोमणि और करणकुतूहल खगोलीय विषयों को तथा लीलावती, बीजगणित गणित के विषय को प्रतिपादित करते हैं। सिद्धान्त शिरोमणि के दो भाग है - गणिताध्याय तथा गोलाध्याय।

गोलाध्याय में आकाश तारामण्डल का वर्णन है। इस ग्रन्थ में विश्व का स्वरूप, ग्रहों और नक्षत्रों की कक्षाएँ तथा पृथिवी में आर्कषण शक्ति का वर्णन है तथा ग्रहों की गतियाँ बतायी है। सूर्योदय का समय जानने की रीति तथा दिनमान ज्ञात करना बताया है। इसमें अक्षांश और लम्बांश जानने की भी रीति है तथा ग्रहण की गणना तथा चन्द्रमा का श्रृंग (नोक) किस दिशा में कितना ऊँचा है, उसका वर्णन दिया गया है। इनके द्वितीय ग्रन्थ करण कुतूहल में ग्रहों की गणना के लिए सुगम रीतियाँ बतायी गयी है।

1.3 भारतीय वेधशालाएँ -

खगोलीय घटनाओं का अध्ययन करने के लिए 17 वीं शताब्दी में महाराजा सवाई जयसिंह ने वेधशालाओं का निर्माण करवाया, जिसे जन्तर-मन्तर नाम दिया गया। भारत में जन्तर-मन्तर (वेधशालाएँ) 5 स्थानों पर स्थित है। सबसे पहली वेधशाला दिल्ली में बनी। इसके बाद क्रमशः जयपुर, मथुरा, उज्जैन, वाराणसी (बनारस) में वेधशालाओं का निर्माण करवाया गया।

1.4 नक्षत्रों के नाम एवं तारों की संख्या -

नक्षत्रों का क्रम कृत्तिका से प्रारम्भ होकर भरणी तक होता है।

सारणी 1.1 -

नक्षत्र	तारों की संख्या	देवता	नक्षत्र	तारों की संख्या	देवता
कृत्तिका	6	अग्निः	अनुराधा	4	मित्रः

रोहिणी	1	प्रजापतिः	ज्येष्ठा	1	
मृगशिरा	3	सोमः	मूल	7	
आर्द्रा	1	रूद्रः	पूर्वाषाढा	4	आपः
पुनर्वसु	2	अदितिः	उत्तराषाढा	4	विश्वेदेवाः
पुष्य	1	बृहस्पतिः	अभिजित	1	
आश्लेषा	6	सर्पः	श्रवण	3	विष्णुः
मघा	6	पितरः	धनिष्ठा	5	
पूर्वाफाल्गुनी	2	अर्यमा	शतभिषा	1	इन्द्रः
उत्तराफाल्गुनी	2	भगाः	पूर्वाभाद्रपद	2	अजएकपात्
हस्त	5	सविता	उत्तराभाद्रपद	2	अहि बुंद्धिय
चित्रा	1	इन्द्रः	रेवती	1	पूषा
स्वाति	1	वायुः	अश्विनी	2	अश्विनौ
विशाखा	2	इन्द्राग्नी	भरणी	3	यमः

प्रश्नावली

(1) पञ्चसिद्धान्तिका ग्रन्थ के रचनाकार का क्या नाम है ?

(2) आकाश तारामण्डल का उल्लेख किस ग्रन्थ में हैं?

(3) नक्षत्र दिवस किसे कहते हैं ?

(4) जन्तर-मन्तर किन स्थानों पर स्थित हैं?

(5) ऋग्वेद की खगोलीय सामग्री क्या हैं ?

अध्याय - 2

पर्यावरण संरक्षण पर आधारित पारम्परिक ज्ञान

2.1 प्रकृति -

ऋग्वेद् में आकाश को पिता, धरती को माता, चन्द्रमा को भाई और अदिति को बहन का स्थान दिया है, एक तरह से हमारे पूर्वजों ने प्रकृति ही नही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को मानव का अंग माना। उपनिषद् में भी अखण्ड ब्रह्माण्ड को प्रकृति के विविध अवयवों के मेल से मिलकर बना हुआ माना गया है। वैदिक धर्म का प्रारम्भिक रूप प्रकृति की पूजा थी। पृथिवी, सूर्य, वरुण, आकाश, अग्नि आदि प्रकृति की विभिन्न शक्तियों को विभिन्न देवताओं के नाम से सम्बोधित कर विभिन्न ऋचाओं से वैदिक ऋषियों ने उपासना की।

सूर्य संसार की आत्मा है -

सृष्टि के आरम्भ से ही सूर्य पूजा का अत्यन्त महत्त्व रहा है। सूर्य की पूजा देवतुल्य रूप में की जाती थी, क्योंकि सूर्य प्रकाश एवं ऊर्जा प्रदान करता है।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। *(यजु. संहिता 8.17)*

यजुर्वेद संहिता के इस मन्त्र में सूर्य को संसार की आत्मा (प्राण) कहा गया है।

वर्तमान समय में यह सिद्ध हो गया कि सूर्य, ऊर्जा का अन्तिम स्रोत है जो ऊर्जा प्रवाह को नियन्त्रित करता है तथा खाद्य श्रृङ्खला को ऊर्जा प्रदान करता है तथा पारिस्थितिकी तन्त्र को नियन्त्रित करने का कार्य करता है। सौर ऊर्जा के इस महत्त्व को हमारे पूर्वजों ने अच्छी तरह से समझा और अनुभव किया था। इसलिए हर शुभ अवसर पर ऋग्वेद के गायत्री मन्त्र का जप किया जाता था।

2.2 वनस्पति और जीव -

भारतीय परम्परा में वृक्षों को बहुत महत्त्व दिया गया है। वेदों में औषधियों तथा फलों के महत्त्व को बताया गया है तथा पेड़ और पौधों को चेतन प्राणी माना जाता है। अथर्ववेद में

वनस्पतियों के ऐसे मन्त्रों का उल्लेख है जिनका महत्त्व चिकित्सा, आरोग्य की दृष्टि से उपयोगी है। बृहदारण्यक उपनिषद् में मनुष्य और वृक्ष की समानता का विवरण दिया गया है। महाभारत के श्लोकों में वृक्षो को "संवेदनशील जीवधारी" कहा गया है तथा वृक्षों में जीवन बताया गया है इसलिए वे फलते-फूलते हैं। सर्दी-गर्मी का अनुभव करते हैं। वृक्षों को रोग भी लगते हैं और उपचार करने पर वे निरोगी हो जाते हैं।

स्पष्ट है कि भारतीय आचार्यों ने सहस्रों वर्ष के पूर्व ही वृक्षों के महत्त्व को समझ लिया था एवं उन्हें सुरक्षा प्रदान करने की दृष्टि से हमारे धर्म में विभिन्न संस्कारों, रीतिरिवाजों तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों के साथ जोड़कर धार्मिक आस्था का प्रतीक बना दिया।

आपने सामान्यतः देखा होगा कि प्रातः काल में महिलाएँ पीपल वृक्ष के चारों ओर परिक्रमा करती हैं। इस कृत्य मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण अन्तर्निहित है क्योंकि पीपल वृक्ष लगातार ऑक्सीजन गैस छोड़ता है जो हमारी श्वसन क्रिया के लिए आवश्यक है।

हमारे पूर्वजों को पीपल वृक्ष की महत्ता का ज्ञान पहले से ही था इसलिए पीपल वृक्ष को पूजनीय माना गया। श्रीमद्भगवद्गीता में भी श्रीकृष्ण ने **'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्'** (गीता 10.26) कहकर अश्वत्थ की श्रेष्ठता प्रतिपादित की। इसके अतिरिक्त वट, बेल, नीम, आँवला आदि महत्त्वपूर्ण वृक्ष है जो पर्यावरण को स्वच्छ रखते हैं । 'तुलसी' भी अश्वत्थ की भाँति आराध्य है, क्योंकि तुलसी के गन्ध से सुवासित वायु दिशाओं को शुद्ध करती है तथा औषधीय रुप में भी इसका प्रयोग किया जाता है। प्राचीन धर्मग्रन्थों महाभारत, रामायण तथा कालिदास द्वारा रचित मेघदूत एवं अभिज्ञानशाकुन्तलम् में प्रकृति का मनोहर चित्रण किया गया है। विष्णुस्मृति में बताया है कि मनुष्य जिन वृक्षों का आरोपण करता है, वे वृक्ष अगले जन्म में उसके पुत्र रूप में उत्पन्न होते हैं। कौटिल्य के अनुसार पेड़ों या उसकी शाखाओं को काटना अपराध है और इसके लिए दण्ड भी निर्धारित थे।

2.3 नदी एवं सरोवर -

सृष्टि के आरम्भ से ही नदी, सरोवर और झरने आदि के रुप में प्रकृति प्रदत्त ये पवित्र उपहार भारतीयों की धार्मिक भावना के प्रतीक थे। महाभारत के वनपर्व में गङ्गा नदी का आराध्य के रूप में वर्णन किया गया है।

आचार्य मनु ने बताया कि तालाबों झरनों तथा कूपों का निर्माण करना चाहिए क्योंकि ये हमारे असीम वैभव और प्रसन्नता के प्रतीक है। इनके जल की प्रदूषणकारी तत्त्वों से रक्षा करनी चाहिए। शिवपुराण में जलदान को श्रेष्ठ दान माना है, क्योंकि जल से सभी जीव समुदाय तृप्त होते हैं। प्रदूषण से बचने के लिए एवं स्वस्थ जीवन प्राप्त करने के लिए ऋषियों ने पर्वतों और नदियों का सामीप्य चुना।

2.4 वन्यजीव -

जीवों पर दया और उनकी रक्षा के लिए हमने अपने प्राचीन धर्मग्रन्थों में पशु-पक्षियों को धार्मिक आस्थाओं से जोड़कर संरक्षण प्रदान किया। सिंह को दुर्गा का वाहन बनाकर उसका वध निषेध किया, उल्लू को लक्ष्मी का वाहन बनाकर तथा गज को गणेश का प्रतीक माना, मूषक को गणेश का वाहन, कुत्ते को भैरव का वाहन माना, नंदी को भगवान शंकर का वाहन माना। इस प्रकार इन्हें धार्मिक मान्यताओं से जोड़कर इनका वध निषेध किया।

सर्प को ईश्वर तुल्य माना गया एवं इसे संरक्षित किया क्योंकि यह प्रकृति का पारिस्थितिक सन्तुलन बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता हैं।

मनुस्मृति में जीवों को नुकसान पहुँचाने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध दण्ड का प्रावधान है।

सिन्धु घाटी सभ्यता के शहरों मोहनजोदडो एवं हड़प्पा के शहरों से एक सींगा, हाथी, कूबड़ वाला बैल आदि जानवरों की मोहरें प्राप्त हुई जो यह बताती है कि वहाँ के लोग पशु प्रेमी थे।

मौर्य साम्राज्य के शासक सम्राट अशोक ने पशुओं पर क्रूरता एवं हत्या को प्रतिबंधित किया था एवं गिरनार (गुजरात) को पशुओं के लिए संरक्षित किया था तथा पशुओं के उपचार की व्यवस्था की थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी पशुओं के लिए वन्य जीव अभयारण्य की बात कही गई है तथा वनों की सुरक्षा के लिए वनाधिकारी नियुक्त करने की बात कही गई है।

प्रश्नावली

(1) अभिज्ञानशाकुन्तलम् ग्रन्थ के रचनाकार कौन है?

(2) निरन्तर ऑक्सीजन छोड़ने वाले वृक्ष का क्या नाम है?

(3) प्रकृति के प्रति भारतीय धार्मिक ग्रन्थों का क्या दृष्टिकोण है?

(4) पेड़ों की पूजा में सांस्कृतिक और साथ ही व्यावहारिक प्रेरणाएँ क्या है?

(5) गाय की तुलना पृथिवी से किस प्रकार की हैं?

अध्याय - 3

प्राचीन भारतीय कृषि प्रणाली

3.1 कृषि विज्ञान का स्वरूप एवं विकास -

ऋग्वेद् में प्राप्त साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि उस समय तक कृषि का पर्याप्त विकास हो चुका था। कृषि मनुष्य के जीविकोपार्जन का मुख्य साधन था। कौटिल्य अर्थशास्त्र की व्यवस्था के अनुसार जल, भूमि, बीज परिकर्म, व्याधि-चिकित्सा, पुष्प, रस, फल, गन्ध आदि कृषि कर्म के अन्तर्गत आते हैं।

कृषि कार्य की सुगमता के कारण ही मनुष्य ने नदियों के किनारे प्रमुखता से अपना स्थान बनाया। वेदों में कृषि का उन्नत स्वरुप मिलता है। अन्न को प्राण माना गया है।

ऋग्वेद् में हल - बैल के प्रयोग, सिंचाई के साधनों का उल्लेख है।

पुरातन समय में धान, गेहूँ एवं जौ मुख्य फसलें थी।

अन्न के भण्डारण एवं कटाई का भी निर्देश है। (कौषीतकिब्राह्मण 21/3) कृषिधन, कीट, उपक्वस, जभ्य, पतंगा आदि कीटो का वर्णन हैं। कुरु देश में टिड्डी के आक्रमण को बताया है **(मटची हतेषु कुरुषु)** (छा.उ. 1/10/1)

3.2 कृषि सम्बन्धी प्रमुख ग्रन्थ -

वैदिक वाङ्मय के अतिरिक्त कौटिल्य का अर्थशास्त्र, वराहमिहिराचार्य की बृहत्संहिता एवं चरक संहिता कृषि सम्बन्धी ग्रन्थ है। सबसे प्रमुख कृषि सम्बन्धी ग्रन्थ कृषि पराशर है जो कृषि शास्त्र का विश्वकोष हैं।

3.3 प्रागैतिहासिक काल में कृषि -

पुरातात्विक विभाग के अन्वेषणों से पता चला है कि गङ्गा नदी के कुछ समतल भागों में चावल उगाया जाता था तथा जौ और बाजरा की खेती 7वीं सदी में हुई थी।

मेहरगढ (बलुचिस्तान) में प्राप्त हुए बॉक्सनुमा जौ की खेती के लिए क्षेत्र अगली शताब्दी में अन्य फसलों की पैदावार प्रारम्भ हुई।

- अन्य अनाज जैसे – गेहूँ, तिल, सूरजमुखी, अलसी, सरसों, अरण्डी, हरे चने, काले चने आदि प्राप्त हुए।
- रेशेदार फसलें - कपास, ककडी, बैंगन की सब्जियाँ आदि प्राप्त हुई।
- फल - अँगूर, खजूर, बेर, कटहल, आम, शहतूत, काला बैर आदि प्राप्त हुई।

घरेलू पशुओं बकरी, कुत्ते, सूअर को पाला जाता था। उस समय मिश्रित कृषि (एक ही समय दो अलग-अलग फसलें उगाने) की प्रणाली का भी ज्ञान था।

3.4 भूमि के प्रकार -

ऋग्वेद में (अप्नस्वती) उर्वरा भूमि तथा (आर्तना) बिना जुती हुई भूमि का उल्लेख है। अमरकोश में 12 प्रकार की भूमि का वर्णन है।

उर्वरा सर्वसस्याढ्या स्यादूषः क्षारमृत्तिका ।

(अमरकोश 2.4)

ऊषवानूषरो द्वावप्यन्यलिंगौ स्थलं स्थली ।

(अमरकोश 2.5)

उर्वरा (उपजाऊँ), उसरा (बंजर), मरू (रेगिस्तान), अप्रहत (परती), शाड्वल (घास युक्त), पंकीकला (दलदल), जलप्रिया (जलयुक्त), कच्छ (पानी के समीप की भूमि), शार्करा (कंकड़ से भरे और चूने पत्थर टुकड़े युक्त), शकरवती (रेतीले), नदीमातृका (नदी द्वारा बाहा कर लायी गयी मिट्टी), देवमात्टिका (वर्षा जल युक्त)

3.5 वर्षा से सिंचित और जल स्रोतों से सिंचित फसलें -

ऋग्वेद में जल के दो प्रकार बताए गए है - खनित्रिमा एवं स्वयंजा –

नदी के जल को **'स्वयंजा'** एवं कूपादि के जल को **'खनित्रिमा'** कहते हैं। कूप से जल निकालने की प्रक्रिया ऋग्वेद में बताई गई हैं। नाली बनाकर जल खेत में पहुँचाया जाता था।

कृषि पाराशर में नलारोपण के बारे मे बताया गया है। इसके द्वारा जल के अभाव में सिंचाई का कार्य किया जाता था।

भारत में फसल उत्पादन, मौसमी मानसून पर निर्भर करता था।

कृषि पाराशर में वर्षा सम्बन्धी भविष्यवाणी की मुख्य तकनीक आकाश में सूर्य तथा चन्द्रमा की स्थिति पर निर्भर थी। बृहत्संहिता में मौसमी वर्षा की भविष्यवाणी नक्षत्रों पर आधारित थी।

वर्तमान समय में भी कई किसान इन पद्धतियों पर आधारित मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणी के आधार पर कृषि कार्य करते हैं।

सिंचित फसलों को जलाशयों, नहरों के द्वारा सिंचित किया जाता था।

फसलों की सिंचाई के लिए एक जोड़ी बैल की सहायता से चमड़े के पात्र के द्वारा कुएँ से पानी निकालकर छोटी नहरों द्वारा खेतों में पहुँचाया जाता था।

सिन्धु घाटी सभ्यता के धोलावीरा में विशाल जलाशय का निर्माण किया गया जिससे सिंचाई कार्य हो सके।

3.6 कृषि में प्रयुक्त उपकरण -

कृषि पाराशर में हल के विविध भागों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। हल के 10 भागों के नाम बताए गए है -

1. ईषा - जिस दण्ड से हल बाँधा जाता था, जिसमें बैल जोते जाते हैं।
2. युग - जिसमें बैल जोते जाते हैं।
3. स्थाणु - लकड़ी जो लोहे के फाल के साथ जोड़ी जाती है।
4. निर्योल - वह दण्ड जो मुख्य दण्ड से जुड़ा होता था।
5. निर्योल पाशिका - वह मुठिया जिसे पकड़कर हल जोता जाता है।
6. अड्डचल्ल - लकड़ी की खूँटी।
7. शौल - लोहे का फाल जो मिट्टी खोदता हैं।
8. पञ्चानिका - बैलों को हॉकने का दण्ड।
9. योक्त्र - बैलों को जोतने के लिए गले में बाँधी जाने वाली रस्सी।

10. रज्जु - हल के पूर्व भाग को पृष्ठ भाग से जोड़ने वाली रस्सी।

3.7 बीज और बुआई -

फसल की उत्पादन क्षमता बीज की गुणवत्ता पर निर्भर होती है । सबसे पहले बीज की सफाई करना चाहिए। उसमें घुन, कीड़ें न लगे हो तथा घृत, मक्खन, तेल न लगा हो। उसे धूप में सूखाकर रखना चाहिए। जमीन पर नहीं फैलाना चाहिए ऐसा करने पर बीजो में नमी आ सकती है। बीजों में एकरूपता होनी चाहिए। माघ एवं फाल्गुन के महीने मे ही बीज इकट्ठे कर लेना चाहिए।

बीज दीमक वाले स्थान पर, पशु रहने वाले स्थान में नहीं रखना चाहिए। दीप, अग्नि, धूम (धुआँ), वर्षा से सम्पृष्ट बीज फलदायी नहीं होता है।

कृषि पाराशर में बताया गया है कि समय बीत जाने पर बीज बुआई से लाभ नहीं होगा। बीज बुआई के बाद उन पर हल्की मिट्टी चढा देनी चाहिए।

यजुर्वेद में भू-परिष्कार के बाद ही बीज बोये जाने का उल्लेख किया गया हैं। इस मन्त्र से स्पष्ट होता है कि वैदिक एवं संस्कृत वाङ्मय में उत्तम बीजों के चयन करने के उपरान्त ही बीजारोपण करने का उल्लेख है।

3.8 खाद -

पौधों की बीमारियों से लड़ने की क्षमता को बढाने तथा फसलों की उत्पादक क्षमता बढाने के लिए गोबर की खाद का प्रयोग किया जाता था।

धूप में गोबर सुखाकर, महीन कूटकर खेतों के गड्ढे में फाल्गुन मास में रखना चाहिए।

3.9 पौधों की सुरक्षा -

पौधों की कीटों से सुरक्षा के लिए जैव रसायन का प्रयोग करते थे।

3.10 पशुपालन -

पशुपालन को संपन्नता का प्रतीक माना जाता था। ऋग्वेद में पशुओं के रहने के स्थान, घास खाने के स्थान व जल पीने के लिए स्वच्छ तालाब के बारे मे बताया गया है।

कन्नड़ ग्रन्थ लोकोपकार में पशुओं के उपचार के बारे में बताया गया हैं। सींग, दांत, माँसपेशियों के उपचार की विधि बताई गई है तथा टूटी हुई हड्डियों के उपचार के लिए औषधियों का उपयोग किया गया था।

पशुओं की देखरेख, पशुधन की जनगणना, बैल को प्रशिक्षित करने के लिए एक पशुधन अधीक्षक की नियुक्ति का वर्णन अर्थशास्त्र में दिया गया है।

3.11 उद्यानिकी -

हड़प्पा के लोग खजूर, अनार, नींबू और तरबूज जैसे फलों की खेती करते थे। बृहत्संहिता में ग्रांफ्टिंग विधि (कलम तैयार करने) का उल्लेख किया गया है।

3.12 उत्सव -

धान की कटाई के बाद पौष अर्थात् जनवरी में उत्सव आयोजित करने की परम्परा रही है। यह परम्परा आज भी मकर संक्रांति के अवसर पर मनाई जाती है। दक्षिण भारत (तमिलनाडु) में 'पोंगल' के रूप में त्यौहार मनाया जाता है तथा पंजाब में बैसाखी एवं असम में बिहु के रूप में धान उत्सव मनाया जाता है।

प्रश्नावली

(1) हल के विविध भागों का वर्णन किस ग्रन्थ में है?

(2) ग्राफ्टिंग से आप क्या समझते हैं?

(3) कृषि सम्बन्धी प्रमुख ग्रन्थों के नाम बताइए।

(4) प्रागैतिहासिक काल में कृषि के बारे में बताइए।

(5) हल के विभिन्न भागों के नाम लिखिए।

अध्याय - 4

भारतीय वास्तुशास्त्र कला एवं चित्रसूत्र

4.1 मन्दिर की वास्तुकला -

भारतीय मन्दिर वास्तुकला की उत्पत्ति वैदिक एवं संस्कृत वाङ्मय से हुई है। वेदि (वैदिक यज्ञ वेदि) के चौकोर आकार ने मन्दिरों के मूल प्रारुप बनाने के लिए वास्तुकारों को प्रेरित किया।

मन्दिर का मूल स्वरुप -

हिन्दू मन्दिर निम्न भागों से निर्मित होता है।

1. **गर्भगृह** – गर्भगृह जहाँ मुख्य अधिष्ठाता देवता की मूर्ति को स्थापित किया जाता है।
2. **शिखर** – गर्भगृह के ऊपर बना सबसे ऊँचा स्थान इसे उत्तर भारत में शिखर कहा जाता है।
3. **मण्डप** – सार्वजनिक कार्यक्रमों के लिए एक सभामण्डप, जिसमें अनुष्ठान, प्रवचन आदि कार्य किए जाते हैं।
4. **वाहन** – वाहन अर्थात् मन्दिर के अधिष्ठाता देवता की सवारी, वाहन को एक स्तम्भ या ध्वज के साथ गर्भगृह में कुछ दूरी पर रखा जाता है।
5. **अन्तराल** – गर्भगृह और मण्डप के बीच का स्थान।

भारत में मन्दिरों को 2 श्रेणियों में बाँटा गया है -

1) उत्तर भारत की 'नागर' शैली

2) दक्षिण भारत की 'द्रविड' शैली

'वेसर' शैली में दोनों शैलियों की सम्मिलित विशेषताओं का मिश्रण पाया जाता है।

1) **नागर या उत्तर भारतीय मन्दिर शैली** – इस शैली में सम्पूर्ण मन्दिर एक विशाल चबूतरे (वेदि) पर बनाया जाता है, उस तक पहुँचने के लिए सीढियाँ होती है। मन्दिर में एक घुमावदार गुम्बद होता है, जिसे शिखर कहा जाता हैं। मन्दिर का गर्भगृह हमेशा शिखर के ठीक नीचे बनाया जाता है। नागर शैली के प्रमुख मन्दिर निम्नलिखित है -

(क) सूर्य मन्दिर (कोणार्क) - बंगाल की खाड़ी के तट पर स्थित कोणार्क में भव्य सूर्य मन्दिर के अब भग्नावशेष ही देखने को मिलते हैं। यह मन्दिर 1240 ई. के आस-पास बनाया गया था। 19वीं शताब्दी में इसका 70 मी. ऊँचा शिखर धराशायी हो गया। अब जगमोहन अर्थात् नृत्य मण्डप ही बचा है। सूर्य मन्दिर एक ऊँचे आधार (वेदि) पर स्थित है। इसकी दीवारें व्यापक रूप से आलंकारिक उत्कीर्णन से ढकी हुई है। इसमें बड़े-बड़े पहियों के 12 जोड़े हैं, पहियों में नाभिकेन्द्र और आरे हैं, जो सूर्यदेव की पौराणिक कथा का स्मरण कराते हैं, जिसके अनुसार सूर्य सात घोड़ों द्वारा खींचे जा रहे रथ पर सवार होते हैं।

(ख) दशावतार विष्णु मन्दिर – यह देवगढ (ललितपुर) उत्तरप्रदेश का मन्दिर छठी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में बनाया गया था। इसे गुप्तकालीन मन्दिर स्थापत्य का श्रेष्ठ उदाहरण माना जाता है। यह मन्दिर वास्तुकला की पंचायतन शैली में निर्मित है, जिसके अनुसार मुख्य देवालय को एक वर्गाकार वेदी पर बनाया जाता है। चार कोनों में चार सहायक छोटे देवालय बनाए जाते हैं। इस प्रकार कुल 5 देवालय बनाए जाते हैं, इसलिए इस शैली को पंचायतन शैली कहते हैं। शिखर रेखा-प्रसाद शैली पर बना है। मन्दिर का प्रवेश द्वारा पश्चिम दिशा में है। इसके बाएँ कोने पर गङ्गा और दाएँ कोने पर यमुना है। इसमें भगवान विष्णु के अनेक रूप प्रस्तुत किए गए है।

(ग) कन्दरिया महादेव मन्दिर - खजुराहो स्थित कन्दरिया महादेव मन्दिर का निर्माण भारतीय मन्दिर स्थापत्य की शैली की पराकाष्ठा है। इस विशाल मन्दिर के स्थापत्य एवं मूर्तिकला में मध्यकालीन भारतीय मन्दिर निर्माण के वे सभी लक्षण विद्यमान है, जिनके लिए मध्य भारत की स्थापत्यकला की श्रेष्ठता जानी जाती है। खजुराहो के मन्दिर अपनी श्रृङ्गार प्रधान प्रतिमाओं के लिए प्रसिद्ध है। प्रतिमाओं को पत्थरों से काटकर मन्दिर की दीवारों पर उभारा गया है।

(घ) चौसठ यौगिनी मन्दिर - यह मन्दिर मध्यप्रदेश के मुरैना जिले में मितावली नामक स्थान पर स्थित है। इस मन्दिर क निर्माण 1323 ईस्वी पूर्व कच्छप राजा देवपाल द्वारा किया गया था। यह मन्दिर वृत्तीय आधार पर निर्मित है, इसके आन्तरिक भाग में 64 छोटे कक्ष हैं। मन्दिर के मध्य में एक खुला मण्डप है। वर्षा के जल को संचित करने के लिए छत से पाइप लाइन को भूमिगत टैंक से जोडा गया है इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन मन्दिरों में वर्षा जल संग्रहण की

व्यवस्था की जाती थी। 1920 ई. में भारतीय संसद् भवन का निर्माण इसी मन्दिर की शैली पर किया गया है।

2) **द्रविड़ या दक्षिण भारतीय मन्दिर शैली** – दक्षिण भारतीय शैली के मन्दिर चारों ओर एक चारदीवारी से घीरे होते हैं। इस चारदीवारी के बीच में प्रवेश द्वार होते हैं जिन्हें गोपुरम् कहते हैं। मन्दिर के गुम्बद का रूप जिसे तमिलनाडु में विमान कहा जाता है। मुख्यतः एक सीढीदार पिरामिड़ की तरह होता है जो ऊपर की ओर ज्यामितीय रूप से उठा होता है। दक्षिण भारतीय मन्दिरों मे उग्ररुप में द्वारपालों की प्रतिमाएँ खड़ी की जाती हैं जो प्रतीक रूप से मन्दिर की रक्षा कर रहे हैं। मन्दिर के परिसर में कोई बड़ा जलाशय या तालाब होता है। द्रविड शैली के प्रमुख मन्दिर निम्नलिखित हैं -

(क) मीनाक्षी सुन्दरेश्वर मन्दिर – यह तमिलनाडु राज्य के मदुरई नगर में स्थित है। इसका निर्माण पाण्डया राजाओं ने 13 वीं शताब्दी में करवाया। इस मन्दिर का स्थापत्य एवं वास्तु आश्चर्यचकित करने वाला है। इसी कारण यह आधुनिक विश्व के 7 आश्चर्यों में प्रथम स्थान पर है। इस इमारत समूह में 12 भव्य गोपुरम् है, जो अतीव विस्तृत रुप से शिल्पित है। इन पर बड़ी कुशलतापूर्वक चित्रकारी की गई है।

(ख) चेन्नाकेशव मन्दिर – यह प्रसिद्ध मन्दिर कर्नाटक राज्य के वेल्लूर में स्थित हैं। इसका निर्माण होयसल वंशीय राजा नरेश विष्णुवर्धन ने 1117 ई. में किया था। स्थापत्यकला एवं मूर्तिकला के कारण यह भारत का सर्वोत्कृष्ट मन्दिर है। मन्दिर के प्रवेश द्वारों पर रामायण, महाभारत के दृश्य अंकित है।

(ग) विरूपाक्ष मन्दिर - यह कर्नाटक राज्य के हम्पी में स्थित हैं। इसका निर्माण विक्रमादित्य द्वितीय की रानी लोकम द्वारा किया गया था। यह मन्दिर ईट तथा चूने से बना हुआ है । युनेस्को के घोषित धरोहरों में सम्मिलित है। यह मन्दिर द्रविड़ परम्परा का सर्वोत्तम उदाहरण है।

4.2 चट्टानों से निर्मित गुफाएँ -

1) **लोमा ऋषि गुफा** - यह बरबाड़ पहाड़ियों (बिहार) में स्थित है। मौर्य सम्राट अशोक के शासनकाल के दौरान तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व गुफा की खुदाई हुई और इसे आजीविका हेतु भिक्षुओं को दिया गया। गुफा का प्रवेश द्वारा झोपड़ी के आकार का है। सुरंग के अंदर दो कमरे

स्थित हैं। एक बड़ा आयताकार रहने वाला कमरा जो सभागृह (असेंबली हॉल) के रूप में कार्य करता है। एक दूसरा कमरा छोटा है जिसमें गुम्बद के आकार की छत है।

2) **अजंता की गुफाएँ** – यह महाराष्ट्र में स्थित है। 29 चट्टानों को काटकर बनायी गई ये गुफाएँ द्वितीय शताब्दी ई.पू. की हैं। यहाँ बौद्ध धर्म से सम्बन्धित चित्रण एवं शिल्पकारी के उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं।

3) **एलोरा गुफाएँ** – यह संभाजीनगर (महाराष्ट्र) से 30 किमी की दूरी पर स्थित है। इसका निर्माण राष्ट्रकूट वंश के शासकों द्वारा किया गया। यहाँ 34 गुफाएँ है, जो एक ऊर्ध्वाधर खड़ी चरणाद्रि पर्वत का एक फलक है। इन्हें बेसाल्ट की खड़ी चट्टानों की दीवारों से काट कर बनाया गया है।

4.3 सिन्धु घाटी की सभ्यता कालीन वास्तुकला -

भारतीय वास्तुकला के प्राचीनतम उदाहरण हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, कालीबंगा, लोथल और रंगपुर से प्राप्त हुए हैं। यह स्थान आभूषण निर्माण कार्य के केन्द्र थे। नगर योजना उत्कृष्ट थी। जली हुई ईटों का निर्माण कार्य में अधिक प्रयोग होता था, सड़के चौड़ी और एक दूसरे के समकोण पर होती थी, शहर में जल की निकासी के लिए नालियों को अत्यन्त कुशलतापूर्वक बनाया गया था। घरों में स्नानघर का निर्माण किया गया था। इस काल में मिट्टी, कच्ची ईंट, बांस, इमारती लकड़ी, पत्तों, घास फूस और छप्पर जैसी जैविक वस्तुओं का प्रयोग हुआ था।

प्रश्नावली

(1) कोणार्क के सूर्य मन्दिर का निर्माण कब हुआ ?

(2) वास्तु से आप क्या समझते हैं ? भारत में वास्तु परम्परा कितनी पुरानी है।

(3) सिन्धु सभ्यता कालीन वास्तुकला के बारे में बताइए।

(4) भारतीय वास्तुकला की नागर शैली को समझाइए।

(5) द्रविड़ शैली पर आधारित प्रमुख मन्दिरों के बारे में बताइए।

अध्याय - 5

प्राचीन भारत में व्यापार और वाणिज्य

5.1 प्रस्तावना -

धन प्राप्ति के उद्देश्य से वस्तुओं का क्रय-विक्रय करना ही वाणिज्य कहलाता है। किसी उत्पादन या व्यवसाय का वह भाग जो उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं की उनके उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं के बीच विनिमय से सम्बन्ध रखता है, वाणिज्य कहलाता है। वाणिज्य के अन्तर्गत किसी आर्थिक महत्त्व की वस्तु जैसे सामान, सेवा, सूचना या धन को दो या दो से अधिक व्यक्ति या संस्थाओं के बीच आदान-प्रदान किया जाता है।

5.2 व्यापार का क्रियान्वयन -

व्यापार 2 प्रकार का होता है। देशी व्यापार (आन्तरिक) एवं विदेशी व्यापार (बाहरी) देशी व्यापार में वस्तुओं एवं सेवाओं का क्रय-विक्रय एक ही देश के अन्दर होता है। विदेशी व्यापार में वस्तुओं एवं सेवाओं का क्रय-विक्रय दूसरे देशों के साथ होता है।

थोक व्यापारी एवं खुदरा विक्रेता, व्यापार को सुचारू रुप से क्रियान्वित करने के लिए मध्यस्थ के रुप में कार्य करते हैं। थोक व्यापारी, उत्पादक या निर्माता से भारी मात्रा में सामान खरीदते हैं एवं कम मात्रा में खुदरा विक्रेताओं को बेचते हैं एवं खुदरा विक्रेता, उपभोक्ता की आवश्यकतानुसार सामान को उपभोक्ता को विक्रय करते हैं।

5.3 प्राचीन भारत में व्यापार -

सिन्धु घाटी सभ्यता की खुदाई के दौरान व्यापार से सम्बन्धित साक्ष्य प्राप्त हुए। यहाँ के नगरों में अनेक व्यवसाय प्रचलित थे। मिट्टी के बर्तन बनाने में ये लोग बहुत कुशल थे। मिट्टी के बर्तनों पर काले रंग से भिन्न-भिन्न प्रकार के चित्र बनाये जाते थे। कपड़ा बनाने का व्यवसाय उन्नत अवस्था में था। उसका विदेशों में भी निर्यात होता था। जौहरी का काम भी उन्नत अवस्था में था। मनके और ताबीज बनाने का कार्य भी लोकप्रिय था। यहाँ के लोग पत्थर, धातु शल्क (हड्डी) आदि का व्यापार करते थे। एक बड़े भाग से ढेर सारी सील (मृन्मुद्रा), एकरुप लिपि और

मानवीकृत माप तौल के प्रमाण मिले हैं। वे चक्के से भी परिचित थे, सम्भवतः रथ जैसे किसी वाहन का प्रयोग करते थे। मोहनजोदड़ो (सिंध), हड़प्पा (पंजाब), राखीगढी (हरियाणा), धोलावीरा (गुजरात) प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे। पहली शताब्दी जैसे – तक्षशिला, उज्जयिनी (उज्जैन), मथुरा, पटना, राजगृह, वाराणसी आदि व्यापारिक केन्द्र थे ।

5.4 वेदों मे अवलोकिक व्यापार प्रणाली -

यजुर्वेद में वर्णित से विकास करने वाले नागरिक जीवन का पता चलता है। वस्तुओं का क्रय-विक्रय वस्तु विनिमय प्रणाली का उपयोग हुआ तथा स्वर्ण का भी उपयोग किया गया।

अथर्ववेद में स्वर्ण सिक्के का उल्लेख है। इस मन्त्र से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में वस्तुओं के विनिमय के लिए मुद्रा का प्रचलन था।

वाणिज्य शब्द की उत्पत्ति वणिक् शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है, बनिया या व्यापारी। यजुर्वेद में वाणिज्य को तुला से भी सम्बोधित किया गया हैं। निरूक्त में वणिक् शब्द पाणिक शब्द से बना है पण अर्थात् रुपया या धन, जो रुपये या धन का लेन-देन करे वह पणिक् या वणिक् कहलाता है।

अथर्ववेद में इन्द्र को व्यापारी के रूप में बताया गया है।

प्राचीन भारत में भी आन्तरिक एवं बाह्य व्यापार प्रचलित था। व्यापारी लोग आपने व्यापार के कार्य को सम्पादित करने के लिए और माल ढोने के लिए बैल, घोड़ों, कुत्तों तथा गधों का प्रयोग करते थे। प्राचीन भारत में सामूहिक व्यापार भी प्रचलित था। भारत का विदेशों के साथ संपर्क था और उनका परस्पर व्यापार विनिमिय भी हुआ करता था।

5.5 प्राचीन भारत में श्रम एवं श्रम नीति -

प्राचीन भारत में श्रम नीति सुस्पष्ठ थी । श्रमिकों के जीवन निर्वाह के लिए न्यूनतम पारिश्रमिक निर्धारित था । कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार यह सीमा 60 पण थी । कार्य में लगने वाले समय, श्रमिकों के कौशल के आधार पर पारिश्रमिक दिया जाता था । शुक्राचार्य ने शुक्रनीतिसार में श्रमिकों को दिए जाने वाले पारिश्रमिक का उल्लेख किया है ।

5.6 मौर्यकालीन व्यापार एवं वाणिज्य -

मौर्य काल में व्यापार (आन्तरिक एवं बाह्य), जल एवं स्थल दोनों मार्गों से होता था। आन्तरिक व्यापार के प्रमुख केन्द्र तक्षशिला, काशी, उज्जैन, कौशांबी, तोसली (कलिंग) राज्य की राजधानी आदि थे । इस समय भारत का बाह्य व्यापार रोम, सीरिया, फारस, मिस्त्र तथा अन्य पश्चिमी देशों से होता था। यह व्यापार पश्चिमी भारत में भृगुकच्छ बन्दरगाह से तथा पूर्वी भारत में ताम्रलिपि के बन्दरगाह से किया जाता था। "मेगास्थनीज" ने ऐग्रोनोमोई नामक अधिकारी की चर्चा की है, जो मार्ग निर्माण का विशेष अधिकारी था'। भारत से मिस्त्र को हाथी के दाँत, कछुए, मोती, रंग, नील और लकड़ी का निर्यात होता था।

व्यापारिक मार्ग -

मुख्य रुप से चार व्यापारिक मार्गों का उल्लेख मिलता है -

- **प्रथम मार्ग (उत्तरापथ)** - उत्तर पश्चिम पुरुषपुर से ताम्रलिपि तक जाने वाला राजमार्ग
- **द्वितीय मार्ग** - पश्चिम में पाटल से पूर्व में कोशंबी के समीप उत्तरापथ मार्ग से मिलता था।
- **तृतीय मार्ग** - दक्षिण में प्रतिष्ठान से उत्तर में श्रावस्ती तक जाने वाला मार्ग
- **चतुर्थ मार्ग** - भृगकच्छ से मथुरा तक जाने वाला मार्ग

प्रश्नावली

(1) किसी भी तरह के उत्पादों को बाहर के किसी देश से अपने देश में लाने को क्या कहते हैं?

(2) वस्तुओं एवं सेवाओं को अपने देश से दूसरे देशों में भेजना क्या कहलाता है?

(3) व्यापार से आप क्या समझते हैं।

(4) प्राचीन भारत के कुछ व्यापारिक केद्रों के नाम बताइए।

(5) व्यापार के क्रियान्वयन की प्रक्रिया को समझाइए।

अध्याय - 6

प्राचीन भारतीय व्यवहार विद्या एवं चिन्तन पद्धति

6.1 भारतीय चिन्तन प्रणाली -

भारत में सभी प्रकार के ज्ञान का एक नैतिक लक्ष्य है, सभी प्राणियों का कल्याण और प्रसन्नता उपनिषद् में कहा गया है।

भारतीय चिन्तन पद्धति की अपनी मौलिक विशेषताएँ है। यह समस्त मानव जाति का मार्गदर्शन करती है। जीवन के उदात्त पक्षों को रेखांकित करती हुई यह हमारे जीवन की विशेषताओं में सकारात्मक पक्षों को उभारकर, नैराश्य को समाप्त करती है। भारतीय चिन्तन पद्धति में धर्म, भारतीय जन जीवन के साथ उसी प्रकार धनीभूत है, जिस प्रकार शरीर के साथ आत्मा है। मत्स्य पुराण में सृष्टि का आरम्भ एवं अन्त के आध्यात्मिक चिन्तन को बताया है। ऐतरेय ब्राह्मण में मनुष्य को कर्मयोगी बनने के लिए प्रेरित किया है। चिन्तन के जिन स्तरों को उस समय के मनीषियों ने स्पर्श किया था और भविष्य का जितना सफल चित्रण उन्होनें देखा और जाना था, वह निश्चय ही आश्चर्यजनक था। इन उद्घोषणाओं एवं चिन्तन में न केवल उस आदिकालीन सत्य की अनुभूति है, वरन् यह उस सनातन चिन्तन के व्यावहारिक पक्ष की प्रतिध्वनात्मक गूंज है, जो आज पाँच हजार वर्षों से भारतीय वायु में धर्म के रुप में गुम्फित है। धर्म के सैद्धान्तिक पक्ष में पर्याप्त अन्तर रहते हुए भी वेदान्त एवं उपनिषद, ब्रह्मसूत्र तथा गीता के आध्यात्मिक सन्देश के सामने सभी शास्त्र मौन हो जाते हैं। इन्हीं आध्यात्मिक संदेशों की गूंज से लोगों में विनम्रता, करुणा और अहिंसा की भावना का विकास हुआ। इसी कारण भारत में लोग बिना तलवार और बन्दूक के विनम्र और सभ्य बन गए।

6.2 प्रमुख भारतीय चिन्तनकार -

1) **आदि शंकराचार्य** – यह भारत के महान दार्शनिक एवं धर्मप्रवर्तक थे। इन्होंने अद्वैत वेदान्त को ठोस आधार प्रदान किया तथा सनातन धर्म की विविध विचारधाराओं का एकीकरण किया एवं ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या की।

आदि शंकराचार्यजी के विचारोपदेश आत्मा और परमात्मा की एकरूपता पर आधारित है। जिसके अनुसार परमात्मा एक ही समय में सगुण और निर्गुण दोनों ही स्वरूप में रहता है। इन्होनें वेदों में लिखे ज्ञान को एकमात्र ईश्वर समझा तथा उसका प्रचार-प्रसार तथा वार्ता पूरे भारतवर्ष में की।इसी क्रम में आदि शंकराचार्यजी द्वारा चारों वेदों के प्रचार-प्रसार, संरक्षण हेतु चार पीठों की स्थापना की ।

अन्य भारतीय चिन्तनकारों में कुमारिल भट्ट, श्री रामानुचार्य, माधवाचार्य, स्वामी विवेकानंद, श्री अरबिन्दो, विनोबा भावे आदि थे।

2) **श्री रामानुजाचार्य** – यह विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रवर्तक थे। रामानुजाचार्य के दर्शन में सत् या परमसत् के सम्बन्ध में तीन स्तर माने गये हैं - ब्रह्म अर्थात् ईश्वर, चित् अर्थात् आत्म तत्त्व और अचित् अर्थात् प्रकृति तत्त्व।

इनके अनुसार शरीर एवं आत्मा पृथक नहीं है तथा आत्मा के उद्देश्य की पूर्ति के लिए शरीर कार्य करता है। इन्होंने मैसूर क्षेत्र में बारह वर्ष तक वैष्णव धर्म का प्रचार किया तथा वैष्णव धर्म के प्रचार के लिए पूरे भारतवर्ष का भ्रमण किया।

6.3 दर्शन सूत्र -

हिन्दू धर्म में दर्शन अत्यन्त प्राचीन परम्परा रही है। वैदिक दर्शनों में षड्दर्शन (छः दर्शन) है।

सारणी 6.2

क्रं.	दर्शन	प्रणेता
1.	सांख्य	कपिल
2.	योग	पतञ्जलि
3.	न्याय	गौतम
4.	वैशेषिक	कणाद
5.	मीमांसा	जैमिनि
6.	वेदान्त	बादरायण

दर्शन शब्द का अर्थ होता है दिखाई देना। ऐसा ज्ञान विशेष जिसके द्वारा परमात्मा का दर्शन (साक्षात्कार) हो सके वह दर्शनशास्त्र कहलाता है। यह छः प्रकार से विवेचित है।

इनके आरम्भिक संकेत उपनिषदों में भी मिलते हैं। प्रत्येक दर्शन का आधारग्रन्थ एक दर्शनसूत्र है। "सूत्र" भारतीय दर्शन की एक अद्भुत शैली है। कुछ शब्दों में सिद्धान्त के सार का संकेत सूत्रों में रहता है। संक्षिप्त होने के कारण सूत्रों पर विस्तृत भाष्य की रचना हुई। गुरु- शिष्य परम्परा के अनुकूल दर्शन की शिक्षा और रचना इसका आधार है। ये छः दर्शन किसी न किसी रुप में आत्मा को मानते हैं। आत्मा की प्राप्ति ही मोक्ष है।

1) **सांख्य दर्शन** - सांख्य दर्शन के अनुसार हमें विवेकशील बुद्धि प्राप्त करने के लिए प्रयास करने चाहिए जो हमे वास्तविक प्रकृति को समझने में सहायता करती है। महर्षि कपिल सांख्य दर्शन के प्रणेता है । इन्होने 527 सांख्यसूत्रों की रचना की जिन्हें 6 अध्याय में विभाजित किया । प्रथम अध्याय विषय निरूपित है । द्वितीय अध्याय में प्रधान कार्य । तृतीय अध्याय में विषयों से वैराग्य । चतुर्थ अध्याय में विरक्त पिंगलाकुरवादियों की आख्यायिकाएँ । पंचम अध्याय में परपक्षनिर्णय है । षष्ठम अध्याय में सभी का अर्थ संक्षेप है ।

2) **योग दर्शन** – महर्षि पतञ्जलि ने योग दर्शन एवं साधना विषयक अनुशासन को चार भागों में विभाजित किया है -

क) समाधि पाद ख) साधन पाद

ग) विभूति पाद घ) कैवल्य पाद

इनमें कुल 195 सूत्र है।

समाधिपाद के प्रथम 2 सूत्र बहुत सार गर्भित है -

पहला सूत्र कहता है योग साधना एक प्रकार का अनुशासन है जिसका जीवन में पालन करना होता है। दूसरा सूत्र कहता है – योग से चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है। अर्थात् यदि योग के अनुशासन का ठीक से पालन करें तो चित्त की वृत्तियाँ शान्त हो जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि योग चित्त के परिष्कार के लिए उत्तम साधना है।

3) **न्याय दर्शन** -

जिस साधन के द्वारा हम अपने विवक्षित (ज्ञेय) तत्त्व के पास पहुँच जाते हैं, उसे जान पाते हैं, वही साधन न्याय है। दूसरे शब्दों में, जिसकी सहायता से किसी सिद्धान्त पर पहुँचा जा सके,

उसे न्याय कहते हैं। प्रमाणों के आधार पर किसी निर्णय पर पहुँचना ही न्याय है। **वात्स्यायन ने कहा है – प्रमाणैपरीक्षणं न्यायः।**

प्रमाणों द्वारा अर्थ (सिद्धान्त) का परीक्षण ही न्याय है। इस दृष्टि से जब कोई मनुष्य किसी विषय में कोई सिद्धान्त स्थिर करता है तो वहाँ न्याय की सहायता अपेक्षित होती है। इसलिए न्याय दर्शन विचारशील मानव समाज की मौलिक आवश्यकता है। उसके बिना न मनुष्य अपने विचारों एवं सिद्धान्तों एवं न प्रतिपक्षी के सैद्धान्तिक आघातों से अपने सिद्धान्त की रक्षा कर सकता है।

4) **वैशेषिक दर्शन** - वैशेषिक दर्शन में कहा गया किसी वस्तु या सामग्री का पूर्ण ज्ञान होने पर सम्बन्धित कार्य में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती है।

5) **मीमांसा दर्शन** - मीमांसा शब्द का अर्थ है चिन्तन 'जिज्ञासा' अर्थात् जानने की इच्छा या लालसा। मनुष्य जब इस संसार में अवतरित हुआ उसकी प्रथम जिज्ञासा यही रही थी कि वह क्या करें।

"अथातो धर्मजिज्ञासा" करने योग्य कर्म के जानने की लालसा है।

6) **वेदान्त** - वेदान्त ज्ञानयोग का एक स्रोत है जो व्यक्ति को ज्ञान प्राप्ति की ओर उत्प्रेरित करता है। इसका मुख्य स्रोत उपनिषद् है, उपनिषदों के अध्ययन से वेदों के सार को समझा जा सकता है। इसलिए इसे वेदान्त कहते हैं। **"वेदस्य अन्त इति वेदान्तः"** जो वेद का अन्तिम भाग है, वह वेदान्त कहा जाता है, जिसे हम उपनिषद् कहते हैं। वेद को चार भागों में विभाजित किया गया है।

क) संहिता ख) ब्राह्मण ग) आरण्यक घ) उपनिषद

उपनिषद् वेद का अन्तिम भाग है। अतः इसे वेदान्त नाम से भी जानते हैं।

प्रश्नावली

(1) प्रमाणों द्वारा सिद्धान्त का परीक्षण क्या कहलाता है ?

(2) प्रमुख भारतीय चिन्तनकार (दार्शनिक) के बारे में बताइए।

(3) वेदान्त दर्शन के बारे में बताइए।

अध्याय - 7

जल शोधन एवं मौसम विज्ञान

7.1 जल प्राप्ति के प्रारम्भिक संकेत -

बृहत्संहिता के दकार्गलनिरुपणम् का उपयोग 2.29 मीटर से लेकर 171.45 मीटर की गहराई तक के भूजल के स्रोतों का पता लगाने के लिए जलविज्ञानीय संकेतक के रुप में उपयोग किया जाता है।

इस प्राचीन शोध कार्य में वर्णित जलविज्ञानीय संकेतों में विभिन्न पौधों की प्रजातियाँ और उनकी आकारिकी और शारीरिक विशेषताएँ, दीमक के टीले, भू-भौतिकीय विशेषताएँ, मिट्टी और चट्टाने शामिल हैं। ये सभी संकेतन एक सूक्ष्म वातावरण में जैविक और भू-वैज्ञानिक सामाग्रियों के लिए विशिष्ट प्रतिक्रियाओं में भूजल पारिस्थितिकी तन्त्र में उच्च सापेक्ष आर्द्रता के परिणाम स्वरूप, एक शुष्क या अर्थ शुष्क क्षेत्र में विकसित होते हैं। पानी के जल स्तर में स्थान के अनुसार भिन्नता, गर्म और ठण्डे झरनों, कुँओं के माध्यम से भूजल उपयोग, कुँओं के निर्माण की विधियाँ और उपकरण दकार्गलनिरुपणम् में वर्णित है।

7.2 वैदिक एवं संस्कृत वाङ्मय में जल शोधन -

वराहमिहिर ने सास्वत द्वारा विज्ञान पर लिखित एक और ग्रन्थ का उपयोग भूमिगत जल और जल के स्तर पर किया है। निःसंदेह किसान (मनु) अपने पूर्व उत्तरवर्ती दकार्गलनिरुपणम् (भूमिगत जल का विज्ञान) बृहत् संहिता को वरीयता देते हैं।

भूमिगत जल और जल तालिका का एक विज्ञान के रुप में सम्बन्ध है, बृहत् संहिता के 53वें अध्याय को दकार्गलम् के रूप में नामित है। जलविज्ञान का संक्षिप्त सर्वेक्षण नीचे दिया गया है। दकार्गलम् के अलावा दो अन्य तकनीकी शब्दों शिरा और शिराविज्ञान का उपयोग इस अध्याय में किया है।

शिरा शब्द से तात्पर्य जल की धमनियाँ या जलधाराओं से होता है। श्लोक 53.1 हमें बताता है कि कुछ स्थानों पर पानी का स्तर अधिक है, दूसरों में यह कम है तथा यह मानव

शरीर में नसों के समान है। श्लोक 53.2 से हम पता चलता है कि जल तालिका वर्षा जल का एक जटिल प्रकार्य है।

जो पानी आकाश से गिरता है, उसमें मूल रुप से एक जैसा ही रंग व स्वाद होता है, लेकिन पृथिवी की सतह पर नीचे और अन्तःस्त्रवण के बाद अलग रंग और स्वाद ग्रहण करता है।

'दकार्गलम्' के बाद के छन्दों में, उप-क्षेत्र में पानी की उपस्थिति और विभिन्न स्थानों पर इसकी गहराई के प्रकार दिए गए हैं। श्लोक 53.3, 53.4 और 53.5 हमें सूचित करते हैं कि उपक्षेत्रों वाली धाराएँ सभी तिमाहियों में वर्षा के पानी द्वारा पोषित है और नौ धमनियों के अलावा, हजारों और भी है जो विभिन्न दिशाओं में बहती है।

चट्टान या मिट्टी की संरचना और पृथिवी की सतह से भौम जलस्तर की गहराई को विभिन्न छन्दों में सही ढंग से वर्णित किया गया है। श्लोक 53.7 में भेद्य और अभेद्य परतों के साथ जल की उपस्थिति के विभिन्न लक्षणों का वर्णन किया गया है।

खुदाई करने पर हमें आधे पुरुष (1 पुरुष = सीधे उठे हाथों सहित खड़े व्यक्ति की ऊँचाई 7.5 फीट) की गहराई पर पीला मेंढक मिलेगा। फिर पीली मिट्टी, फिर चट्टान और फिर पर्याप्त मात्रा में जल प्राप्त होगा ।

इसी तरह, कई अन्य छन्दों में लगभग 70 क्षेत्र स्थितियों या पारिस्थितिक विस्तार का वर्णन किया गया है, जिनसे भूमिगत झरनों की उपस्थिति का विस्तार करना सम्भव होगा। वास्तव में वराहमिहिर द्वारा वर्णित भूमिगत जल की खोज की तकनीक, क्षेत्र में प्राकृतिक रूप से पाए जाने वाले विशिष्ट संकेतों के एक समीप के अवलोकन पर निर्भर करती है, जिसमें वनस्पति, जीव, चट्टानें, मिट्टी और खनिज सम्मिलित है, जिनकी स्थिति और भिन्नता तार्किक या अनुभवजन्य रूप से आसपास के क्षेत्र में भूमिगत झरनों की उपस्थिति से जुडी हो सकती हैं।

वराहमिहिर द्वारा दिए गए विस्तृत विवरण में एक आश्चर्यचकित वाले कारक भूमिगत जल के सूचक के रूप में दीमक की गांठों की भूमिका है। भूमिगत जल की खोज के अतिरिक्त, कुछ अध्यायों के श्लोक, कुओं की खुदाई, प्रचलित हवाएँ के सन्दर्भ के साथ उनके संरेखण, कठोर पथरीली परतो से निपटना, पत्थर तोड़ने वाली छेनी तेज करना, स्वाद, गन्ध वाले पानी,

औषधियों के साथ उपचार करना, लकड़ी लट्ठों और पत्थरों और पेड़ के रोपण के साथ किनारों का संरक्षण और ऐसे अन्य सम्बन्धित विषयों से सम्बन्धित हैं।

बृहत्संहिता के लगभग तैंतीस श्लोक, अकेले दीमक या अन्य वनस्पति के साथ जुड़े हुए हैं, तीस अकेले वनस्पति कारकों के साथ और शेष अन्य कारकों का उपयोग करके अन्वेषण में सहायता करने के लिए हैं।

यदि जम्बू वृक्ष के पूर्व में पास में एक दीमक का टीला हो, तो पेड़ के दक्षिण में तीन हाथ की दूरी पर दो पुरुषों की गहराई पर, लम्बे समय तक प्राप्त होने वाला बहुत सारा मीठा जल होता है (53.9) इसी प्रकार, उत्तर में दीमक के टीले वाला अर्जुन के पेड़ के पश्चिम में 3 हाथ की दूरी पर 3.5 पुरुषों की गहराई पर जल दिखाता है।

चित्ताकर्षी मिट्टी संरचना जिसे आम भाषा में 'एंट-हिल्स' के रूप में जाना जाता है, उस टीले के निर्माण में दीमक की टीलें बनाने वाली किस्म जिम्मेदार है, इस टीले को वैज्ञानिकों द्वारा दीमक का नोल-माउंड या स्पियर्स कहा जाता है। ये ऊष्णकटिबन्धीय और उपोष्णकटिबन्धीय परिदृश्य की सबसे अधिक परिचित विशेषताएँ हैं और भूमिगत झरनों की अन्वेषण की तकनीक में हमारे लिए रुचिकर हैं।

यदि दीमक टीलों की एक पंक्ति में कोई उठा हुआ (लम्बा) टीला पाया जाता है, तो उसके भीतर जल वाहिनी पायी जाती है।

यदि पांच दीमकों का समूह एक जगह पाया जाता है और उनमें से मध्य वाली सफेद हो, वहाँ पर पञ्चपन पुरुषों की गहराई (अर्थात् 7.5 55 412.5 फीट) पर जल प्राप्त होगा ।

यह सामान्य अवलोकन का विषय है कि पेड़ो के बिल्कुल पास कई बार दीमक क्षेत्र मिलते हैं, और यह काफी आम दृश्य है कि ये पूरी तरह से घास या वनस्पति द्वारा ढके रहते हैं। कई बार दीमक का पता लगाने के लिए बहुत नजदीकी अवलोकन की आवश्यकता होती है। प्राचीन भारतीय विद्वान ने नीचे बताए गये अनुसार भूमिगत झरनों की खोज में इस साहचर्य का अत्यधिक उपयोग किया है।

यदि जम्बू, त्रिवृत, मौरव, सिसुमरी, सारिवा, शिव, श्यामा, वराहि, ज्योतिष्मति, गरुदेवगा, सुकारिका, माषपर्णी, व्याघ्रपदा के पेड़ और लताएँ दीमक के टीले के पास दिखती हैं, तो इसके 3 हाथ उत्तर में 3 पुरुष की गहराई पर जल है।

उपरोक्त श्लोकों में उल्लिखित वनस्पतियों के वानस्पतिक नाम हैं - जम्बू (यूजेनिया जाम्बोस, एंगेनिया जम्बोलाना), त्रिवृत (इपोमिया टेरपेथम), मौरवी (संसेवियरिएरेक्स-बर्गियाना), सिसुमारी, सरिवा (हेमाइडेसमस इंडीक), सिवा (कई पौधे - कुकुमिस यूटिलिसस, टर्मिनलिया चेबुला, एम्बेलिका ऑफिसिनैलिस, सिनोड़ोन ड़ेक्टाइलोन), शयामा (इचेनारपस फ्रुक्टेन्स – ब्लैक क्रीपर, क्रसना सरिवा, धतूरा धातु, अगलला रोक्स-बुर्गीयना, पनिकुम कोलनकम आदि), सुकारिका (ल्यकोपोड़ियम इम्ब्रिकाटम, आई. क्लोवेटम) माषपर्णी (ग्लाइसिन ड़ेबाइटिस, जी. लैबिअलि)

इसी प्रकार, बृहत्संहिता के अध्याय 53 के विभिन्न अन्य श्लोक विभिन्न लक्षणों के संयोजन के साथ भूमिगत जल की खोज से सम्बन्धित हैं, जैसा नीचे दिया गया है -

गैर-काँटेदार पेड़ों या इसके विपरीत के बीच में एक फलता-फूलता काँटेदार पेड़ पश्चिम की ओर 3 हाथों की दूरी पर 3.75 पुरुषों की गहराई पर पानी को इंगित करता है।

उपरोक्त छन्द (54.104) मिट्टी और पानी का सम्बन्ध बताते हैं। यह कहता है कि ताँबे के रंग की कंकरीली और रेतीली मिट्टी पानी को कसैला बना देती है। भूरे रंग की मिट्टी क्षारीय जल को जन्म देती है, पीली मिट्टी जल को नमकीन बनाती है और नीली मिट्टी में भूमिगत जल शुद्ध और ताजा हो जाता है।

रामायण में हमें उत्स्रुत कुओं के बारे में पता चलता है। छन्द 6, 22.37-38 में कहा गया है कि भगवान राम के तीर द्वारा बनाए गए छेद के माध्यम से गहरी धरती से जल लगातार बल से निकलता है, यथा

गोपथ ब्राह्मण के अध्येता भी दो प्रकार के झरनों या जल प्रपातों से अर्थात् गर्म और ठंडा से परिचित थे। विलक्षण स्थलाकृति के बारे में पता चलता है जहाँ पानी जमीन से पानी बुदबुदाते हुए निकलता है ।

प्रश्नावली

(1) प्राचीन ग्रन्थ रामायण में हमे भूमिगत जल के किस जल स्रोत का वर्णन मिलता है?

(2) बृहत्संहिता में भूमिगत जल प्राप्ति के प्रारम्भिक संकेत कौन से हैं?

(3) वनस्पतिक वृक्षों की स्थिति के आधार भूमिगत जल कैसे प्राप्त करते हैं?

(4) प्राचीनकालीन जलशोधन के बारे में बताइए ।

अध्याय - 8

यज्ञ विद्या

8.1 यज्ञ के प्रमुख साधन -

ऋषियों ने यज्ञ के सात प्रमुख साधन बताए हैं जिनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है -

1) **हवि** - यज्ञ का प्रथम साधन हवि है, जिसे यज्ञ का प्राण भी कहा जाता है। अग्नि में पकाई गई इस हवि को अमृत कहा गया है। हवि की ही भाँति यज्ञों में घृत का भी प्रयोग किया जाता है।

2) **समिधा** - यज्ञीय लकड़ियों को ही समिधा कहते हैं। सूर्य रश्मियों के विशेष रूप से घर माने जाने वाले बरगद, गूलर, पीपल की लकड़ियाँ समिधा के रूप में प्रयोग की जाती है।

3) **यज्ञ भूमि** - इसको यज्ञ-वेदी और यज्ञ-मण्डप भी कहते हैं। वस्तुतः यह पृथिवी ही सभी देवताओं का निवास स्थल है। अतः शुद्ध भूमि ही यज्ञ भूमि है।

4) **कुशा** - यज्ञ में बहुधा उपयोगी घास विशेष। कुशा एवं समिधाहरण ब्राह्मण एवं ब्रह्मचारी के लिए नित्य कर्म बताया गया है। वह कुशा देवताओं एवं अदिति पुत्रों को सुखपूर्वक बैठने के लिए भूमि पर बिछायी जाती है।

5) **ऋत्विज्** - ऋत्विज् को ही विद्वानों ने निश्चित रुप से यज्ञ का साधन स्वीकार किया है। ये चार प्रकार के होते हैं -

    1) **होता** - यह ऋचाओं की आवृत्ति करता हुआ यज्ञ वेदी पर बैठता है।

    2) **अध्वर्यु** - यह यज्ञ के शरीर स्वरूप को बनाता है।

    3) **उद्गाता** - यह ऋचाओं के साम को गाता है।

    4) **ब्रह्मा** - यज्ञ में त्रुटि हो जाने पर उसे ठीक करवाता है।

6) **यज्ञ मन्त्र** - मन्त्र असाधारण शक्ति सम्पन्न बतलाए गए हैं। मन्त्र एवं देवता प्रसन्न होकर सिद्धियाँ प्रदान करते हैं।

7) **दक्षिणा** - दक्षिणा के बिना यज्ञ अपूर्ण होकर नष्ट हो जाता है। वेदों में अश्व, सोना-चाँदी, वस्त्रादि को दक्षिणा के रूप में देने का उल्लेख मिलता है, जिससे दाता द्युलोक में स्थित हो जाते हैं।

8.2 यज्ञों का क्रम -

गोपथकार के अनुसार यज्ञों का क्रम निम्नलिखित प्रकार है -

1) **अग्न्याधान** - सभी यज्ञ अग्न्याधानपूर्वक होते हैं। अग्न्याधान का अर्थ है - अग्नि को प्रज्वलित करना।

2) **अग्निहोत्र** - इसे सम्पूर्ण यज्ञों का मुख कहा जाता है। यह यज्ञ प्रातः एवं सायं करणीय होता है।

3) **दर्शपौर्णमास** - यह यज्ञ स्वर्ग प्राप्ति के लिए किया जाता है - स्वर्गीय हि वै लोकाय दर्शपूर्णमासौ इज्येते। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यज्ञ माना गया है।

4) **चातुर्मास्य** - यह प्रत्येक तीन मास के अनन्तर होने वाला यज्ञ है। इसके चार भेद हैं - क) वैश्वदेव ख) वरूणप्रघास ग) साकमेध घ) शुनासीरीय।

5) **सोमयाग** - इस यज्ञ का एक अन्य अग्निष्टोम भी है। यह यज्ञ पशुबलि से सम्बन्धित है।

6) **वाजपेय** - यह यज्ञ रथदौड़ से सम्बन्धित यज्ञ है, जो एक शरत्कालीन यज्ञ माना जाता है।

7) **राजसूय** - यही सोमयाग है, जो राजनीति से सम्बन्धित है और स्वर्ग प्राप्त्यर्थ किया जाता है।

8) **अश्वमेध** - यह भी राजनीति से सम्बन्धित है तथा इसे यज्ञों का राजा कहा जाता है।

9) **पञ्चमहायज्ञ** - स्मृतियों में विवेचित तथा वर्तमान में प्रचलित पञ्चमहायज्ञों (महामखा) का स्वरूप इस प्रकार है।

8.3 हविर्यज्ञ संस्था -

इस यज्ञ के 7 प्रमुख यज्ञ इस प्रकार हैं -

1) अग्न्याधेय

2) अग्निहोत्र (अग्नये हूयते अस्मिन् तद् अग्नि होत्रम्)

3) दर्शपौर्णमास - दर्शयाग अमावस्या को तथा पौर्णमास याग पूर्णिमा तक यावज्जीवन करणीय होते हैं।

4) आग्रायण (नवशस्येष्टि या नवान्नेष्टि)

5) चातुर्मास्य - यज्ञ चार-चार मासों में अनुष्ठेय

6) पशुबन्ध (निरूढपशुबन्ध) - पश्विजा संवत्सरे संवत्सरे प्रावृषि (प्रत्येक वर्ष वर्षा ऋतु में अनुष्ठे

7) सौत्रामणि - यह भी पशुयाग के ही अन्तर्गत आता है।

8.4 सोमयज्ञ –

यह संस्था भी 7 प्रमुख यज्ञों का समूह है जो निम्नलिखित प्रकार से है -

1) अग्निष्टोम संस्था - एषः प्रथमः सोमः। इस यज्ञ के करने का समय वसन्त ऋतु माना गया है।

2) अत्यग्निष्टोम (अत्यसस्येष्टि) - वस्तुतः अग्निष्टोम की ही विकृति है। इसमें प्रायः सम्पूर्ण विधि प्रकृति भूत अग्निष्टोमयागवत् होती है।

3) उक्थ्य -

4) षोडशी - यह भी अग्निष्टोम की विकृति है। प्रायः सभी विधान प्रकृति यागवत् होते हैं। वीर्य की कामना से करणीय हैं।

5) वाजपेय - अग्नादि की कामना करने वाले व्यक्ति द्वारा शरद् ऋतु में अनुष्ठेय।

6) अतिरात्र - अग्निष्टोम यज्ञ की विकृति यह यज्ञ ब्रह्मवर्चस् की कामना से किया जाता है।

7) आप्तोर्याम - यह अतिरात्र की विकृति है, जो पशु प्राप्ति की कामना से किया जाता है।

8.5 पाकयज्ञ संस्था -

इन्हे गृहयाग भी कहते हैं। गृह्यसूत्रों में वर्णित यज्ञ ही गृहयाग हैं। इसके सात प्रमुख यज्ञ अधोलिखित हैं -

1) अष्टकाश्राद्ध

2) पार्वणश्राद्ध

3) श्रावणी

4) आग्रायणी

5) मासिकश्राद्ध

6) आष्वयुजी

7) चैत्री

8.6 यज्ञों का वैज्ञानिक महत्त्व -

यज्ञ के संक्षिप्त स्वरूप विवेचन के पश्चात् उसके वैज्ञानिक तथ्यों का उद्घाटन एवं अवबोध सरल एवं सुगम हो सकेगा। वर्तमान समय में समस्त मानव जाति के लिए अनेकानेक ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही हैं, जिनका यदि समय रहते यथोचित निवारण न किया जाए तो मानव की अस्मिता ही संकट में पड़ जाएगी। इन समस्याओं में पर्यावरण की समस्या अनेक असाध्य रोगों की समस्या, मानसिक विकृतियाँ, वैश्विक तापमान में वृद्धि, अम्लवर्षा, अतिवृष्टि एवं अनावृष्टि आदि की समस्याएँ सम्पूर्ण विश्व के लिए निरन्तर चिन्ता एवं भय का कारण बनी हुई है। इन समस्याओं के निवारण के लिए जो भी आधुनिक भौतिक उपाय किए जा रहे हैं वह या तो पूर्णतया असफल हो रहे हैं या उनकी सफलता की अपनी सीमा है। इसके अतिरिक्त इन भौतिक उपायों से अन्य समस्याएँ भी जन्म ले रही है। यही कारण है कि वर्तमान में सम्पूर्ण विश्व एक स्वर में प्राकृतिक उपायों को अपनाने का आह्वान कर रहा है। प्रकृति के प्रति विश्व की यह अवधारणा हमारी प्राचीन संस्कृति एंव यज्ञ-विधान का मुख्य समर्थन ही है।

पर्यावरण प्रदूषण उपर्युक्त समस्त समस्याओं की मूल है, जो लोभ-वृत्ति से पराभूत मनुष्य के द्वारा निसर्ग के नियमों के अतिक्रमण से जन्मी है। वैदिक वाङ्मय में वर्णित सम्पूर्ण यज्ञ-प्रक्रिया वातावरण के शोधन का उत्कृष्ट तरीका सिद्ध होता है। हमारे ऋषियों ने प्रातः, सायं अग्निहोत्र का विधान किया था, जिसमें घृत एवं औषधियों की आहुति दी जाती थी जिससे वे आज्यादि पदार्थ सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर न केवल वातावरण को शुद्ध करते थे बल्कि इससे वातावरण सुगन्धित एवं पवित्र भी होता था।

पर्यावरण जनित एक प्रमुख समस्या है, जिसका वैज्ञानिकों के पास कोई कारगर उपाय नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता में उल्लेख मिलता है कि सम्पूर्ण भूत अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न वृष्टि से और वृष्टि यज्ञ से होती है -

हमारे मनीषी पूर्वजों ने **अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः** *(अथर्व. 9.15.14)* कहकर यज्ञ को सम्पूर्ण जगत का, सृष्टि का आधार बिन्दु बताया है। **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्मः** *(शतपथ. ब्राह्मण 1.7.15)* के नियमानुसार यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है जिसका अभिप्राय है कि यज्ञ के द्वारा पर्यावरण को शुद्ध रखकर प्रदूषण जनित अनेक समस्याओं से बचा जा सकता है। यज्ञ की इसी विशेषता के कारण इसे प्रजापति की संज्ञा भी प्रदान की जाती है। आधुनिक वैज्ञानिक धारणा यह है कि वृक्ष एवं वनस्पतियाँ वायु प्रदूषण जनित विष आदि का संश्लेषण कर लेती है। इस कारण वृक्ष एवं वनस्पतियाँ पर्यावरण शोधन के सर्वाधिक उचित उपाय है -

$$2H_2 + O_2 \longrightarrow 2H_2O$$

वेदों में गैसों को क्रमशः मित्र एवं वरुण नाम से अभिहित किया गया है। ऋग्वेद में ऋषि, पदार्थों को पवित्र करने में दक्ष और सबसे हल्की गैस (हाइड्रोजन गैस) का और रोग निवारक एवं स्वास्थ्यप्रद वरुण का इसलिए आह्वान करता है, क्योंकि ये दोनों जल निर्माण की क्रिया को सिद्ध करने वाली हैं।

ओजोन (O_3) की परत क्षरण की समस्या एक ऐसी समस्या है जिसके कारण सूर्य की हानिकारक पराबैंगनी किरणें पृथिवी पर आकर वनस्पतियों एवं जीव-जन्तुओं को नष्ट कर सकती हैं। इस ओजोन (O_3) की परत को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला रसायन क्लोरोफ्लोरोकार्बन (C.F.C.) है जिसकी मात्रा को वायुमण्डल में घटाकर इसके ह्रास को रोका जा सकता है। इस विषय में हमारे ऋषियों ने यज्ञ-विधि का आविष्कार कर निरन्तर कई सहस्र वर्षों तक इस समस्या से बचे रहें।

प्रश्नावली

(1) वनस्पतियों एवं जीवों को नुकसान पहुँचाने वाली हानिकारक किरणों का क्या नाम है?

(2) C.F.C.का पूरा नाम क्या है ?

(3) यज्ञों का वैज्ञानिक महत्त्व विस्तारपूर्वक बताइए।

(4) यज्ञ के प्रमुख साधन बताइए।

(5) यज्ञों के क्रम को विस्तारपूर्वक समझाइए।

अध्याय - 9

प्राचीन भारतीय प्रौद्योगिकी

9.1 जल शुद्ध करने के उपाय -

अञ्जनमुस्तोशीरैः सराजकोशातकामलकचूर्णैः।
कतकफलसमायुक्तैर्योगः कूपे प्रदातव्यः।

(बृहत्संहिता दकार्गल. 53.121)

अंजन (अणता का पेड़ जिसका प्रयोग स्त्रियाँ अंजन बनाने में करती है।) मोथा, वड़, राजकेशर, आँवला, निर्मली ये सभी बराबर भाग में चूर्ण बनाकर कुँए में डालने से जल शुद्ध होता हैं।

कलुषं कटुकं लवणं विरसं सलिलं यदि वा शुभगन्धि भवेत्।
तदनेन भवत्यमलं सुरसं सुसुगन्धि गुणैरपरैश्च युतम् ॥

(बृहत्संहिता, दकार्गल. 53.122)

जिस कुँए का पानी दूषित, कडुआ, नमकीन अथवा विचित्र स्वाद वाला हो, दुर्गन्धयुक्त हो अथवा हानिकारक गैस या गन्ध कुँए से आती हो, उस कुँए में उपरोक्त चूर्ण 15-20 सेर (किलो) ड़ालने से पानी साफ निर्मल स्वाद वाला, मीठा हो जाएगा।

9.2 जल प्रबन्धन -

भारत में शुष्कतम मौसम और पानी की कमी में जल प्रबन्धन के क्षेत्रो में कई अन्वेषी कार्यों को मूलरुप दिया है। सिन्धु घाटी सभ्यता के समय से इस पूरे क्षेत्र में सिंचाई प्रणाली, भिन्न-भिन्न प्रकार के कूपों, जल भण्डारण प्रणाली तथा न्यूनतम लागत और अनवरत जल सङ्ग्रहण तकनीक विकसित की गई थी। 3000 ई. पूर्व में गिरनार में बने जलाशय तथा पश्चिमी भारत में प्राचीन स्टैप – वैल्स कौशल के कुछ उदाहरण हैं। प्राचीन भारत में जल पर आधारित तकनीकें भी प्रचलन में थी। कौटिल्य अर्थशास्त्र में हस्तचालित कूलिंग उपकरण वारि यन्त्र

(हवा को ठण्ढा करने के लिए घूमता हुआ जल स्प्रे) का सन्दर्भ दिया है। पाणिनि (700 ई. पूर्व) की "अष्टाध्यायी" में वर्षामापी यन्त्रों का विधिवत सन्दर्भ दिया हैं।

9.3 वर्षामापक यन्त्र -

मौर्य काल के दौरान, वर्षा मापक को "वर्धमान" के रुप में जाना जाता था। कौटिल्य ने इसके निर्माण का वर्णन इन शब्दों में किया है। भण्डार के सामने, एक कटोरा (कुण्डा) जिसका मुँह एक अर्तिनी (24 अंगुल लगभग 18 इंच) चौडा वर्षा मापक (वर्षामान) के रूप में स्थापित किया जाएगा।

वर्षा के मापन को महर्षि पाणिनि ने उदाहरण द्वारा समझाया है जैसे **"गोष्पदपरं वृष्टो देवः"** (अर्थात् गाय के खुर से बने गड्ढे के बराबर वर्षा) **सीता परं वृष्टो देवः** (वही स्वदेशी हल के जोतने से बनी लीक को भरने के बराबर वर्षा) यह स्पष्ट है कि गोष्पद सबसे कम वर्षा का मापक था।

अर्थात् एक क्यूबिक मापने के लिए एक गोलाकार कटोरी का निर्माण (कुण्ड कर) कर वर्षा की मात्रा को बताना चाहिए।

9.4 बांस से बने पाइप का जलवाहक के रूप में उपयोग -

मेघालय में झरनों के पानी को रोकने और बांस की नलियों का उपयोग कर सिंचाई करने की प्रणाली का चलन रहा है इस प्रणाली द्वारा प्रति मिनट 18 से 20 लीटर पानी ले जाया जा सकता है।

बांस की नलियों से सिंचाई पान के पत्ते या काली मिर्च उगाने के लिए किया जाता है। जल मार्ग बनाने के लिए विभिन्न व्यास के बांसों का उपयोग किया जाता है। सबसे पहले बांस को छीलकर चिकना किया जाता है। उसके बाद मुख्य मार्ग से पानी को विभिन्न जगहों पर ले जाने और वितरित करने के लिए छोटी-छोटी नलियों का प्रयोग किया जाता है।

9.5 प्राचीन उपकरण / यन्त्र -

1) **पनचक्की** - पर्वतीय क्षेत्र में आटा पीसने की पनचक्की का उपयोग अत्यन्त प्राचीन है। पानी से चलने के कारण इसे "घट या घराट" कहते हैं। पनचक्कियाँ प्रायः सदा प्रवाहित नदियों के तट पर बनाई जाती हैं। नदी से पानी लेकर उसे लकडी के पनाले में प्रवाहित किया

जाता है। जिससे पानी में तेज प्रवाह उत्पन्न हो जाता है। इस प्रवाह के नीचे पंखेदार चक्र (फितौड़ा) रखकर उसके ऊपर चक्की के 2 पाट रखे जाते हैं। निचला चक्का भारी एवं स्थिर होता है पंखे के चक्र का बीच का ऊपर उठा नुकीला भाग ऊपरी चक्के के खांचे में निहित लोहे की खपच्ची (क्वेलार) में फँसाया जाता है। पानी के वेग से ज्यों ही पंखेदार चक्र घूमने लगता हैं, चक्की का ऊपरी चक्का भी घूमने लगता है।

2) **ओखली / ओखल / उरवव** - इसमे मूसल की सहायता से प्रायः छिलकेदार अन्न कूटा जाता है। ओखली में प्रायः धान, मडुवा, जौ, बाजरा, गेहूँ कूटा जाता है। ओखली सामान्यतः 2 प्रकार की होती है।

(क) पैडल वाली ओखली – ओखली किसी कठोर पत्थर अथवा बाँज या सानड़ के गिल्टे के बीच में 7 से 10 इंच की गहराई का ऊपर की ओर चौड़ा एवं नीचे की ओर संकरा गढ्ढा बना कर निर्मित की जाती है। पत्थर की ओखली का वजन 1 या 2 मन से अधिक होता है। यह गढ्ढा किसी चौकोर पत्थर पर बनाया जाता है। ओखली को निर्धारित स्थान पर भूमि के अंदर गाड दिया जाता है। ओखली के चारों ओर पटाल (स्लेट) बिछा दिए जाते हैं। पैडल वाली ओखली से लकड़ी की ओखली सुविधाजनक होती है। इसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया सकता है। इस ओखली में मूसल का ऊपरी सिरा एक लम्बी लकड़ी में फँसाया जाता है। इस लम्बी लकड़ी को आधार की दो तख्तियों के सहारे टिका कर इसके दूसरे सिरे को पैडल से जोड़ दिया जाता है। लकड़ी को स्थिर रखने के लिए आधार की तख्तियों के ऊपर तिरछी लकड़ी लगा दी जाती है। मूसल लम्बा व भारी होता है। पैडल के दूसरे सिरे पर उसकी दूरी उतनी होती है कि पैडल दबते ही वह उठ कर ठीक ओखली पर पड़े। मूसल के निचले सिरे पर लोहे का छल्ला लगा रहता है, जो अनाज की भूसी निकालने में सहायक होता है।

ख) साधारण ओखली – इसमें ओखली स्थिर और प्रायः पत्थर की होती है पर मूसल पैडल वाला अण्डाकार और लम्बा होता है। इसकी गोलाई लगभग 4 से 8 इंच तथा लम्बाई औसतन 5 से 6 ½ फीट तक होती है। मूसल को बीच से दोनों हाथों के बल से ओखली में मारा जाता है। ये मूसल बीच में हत्थे की जगह पतले व सिरों की ओर मोटे होते हैं। मूसल के

निचले सिरे में कभी – कभी लोहे की कीले लगा दी जाती है एवं छल्ले लगा दिए जाते हैं जो भूसा निकालने में सहायता करते हैं।

3) **तेल का कोल्हू** - इसके द्वारा सरसों, तिल, भंगीरा, पीली सरसों, अलसी आदि का तेल निकाला जाता है। तेल के कोल्हू में 2 फीट चौड़ी, 5 फीट लम्बी, 4 फीट मोटी आधार की वजनदार तख्ती स्थापित की जाती है। तख्ती के चारो और ½ इंच की बाड़ लगी रहती है तथा बीच में ओखली बनी रहती है। ओखली के तले में एक संकरा छेद होता है। इसे मजबूत पत्थरों पर टिका दिया जाता है। इस तख्ती के नीचे की कुछ जमीन खोदकर चूल्हानुमा जगह बनाई जाती है। जहाँ बर्तन रखा जाता है जिसमें तेल इकट्ठा होता है। तख्ती (घानी) के ओखलीनुमा छेद् के खांचे में नीचे की ओर मोटा तथा ऊपर की ओर पतला लगभग 6 फीट खम्भा स्थापित किया जाता है। इसे बी कहते हैं। बी का सन्तुलन सही बनाए रखने के लिए बी से एक आड़ी तथा कमर तक की ऊंचाई पर एक तिरछी लकड़ी जुड़ी रहती है एवं उस पर पत्थर का भार रख दिया जाता है। जोड़ के कुछ बाहर की ओर निकला हुआ तिरछी लकड़ी का भाग हत्थे का काम करता है। भुने हुए बीजों को घानी में ड़ाला जाता है। कोल्हू पर बने हत्थे गोलाई में घुमाते ही लकड़ी का बी (खम्भा) धानि में घूमने लगता है और तेल की धार गिरने लगती है।

4) **गन्ने का कोल्हू** - इस कोल्हू में कल या बोलन तिरछी जोती जाती है। इनका भार कम और आकार लम्बा बेलनाकार होता हैं। 2 खम्भों में बने खाँचो में फँसा कर उसे खम्भे पर लगी चाबी से मजबूती से कस दिया जाता है। यह ऊपर की कल स्थिर रहती हैं। ऊपर की कल से सटा कर नीचे की कल भी लकड़ी के खम्भे के खाँचों में फंसा दी जाती है। नीचे की कल के एक और काँटेदार घिर्री होती है, जो ऊपरी कल की घिर्रो में फँसी रहती है। उपरी घिर्रो का सम्बन्ध हत्थे से रहता है, जो उस ओर के खम्भे से होकर बाहर निकला रहता है। निचली कल के दोनों खम्भों के बीच एक तिरछी लकड़ी के बीचो-बीच एक चौड़े मुँह वाली टीन की कुप्पी लगी रहती है, उसके नीचे गन्ने रस हेतु एक बर्तन को रखा जाता है। दोनों कलों के बीच गन्ना ड़ाल कर हत्था घुमाने से निचली कल घूमने लगती है और गन्नों से रस निकालकर कुप्पी से होता हुआ बर्तन में इकट्ठा होने लगता है।

किला-दुर्ग निर्माण -

शत्रुओं के आक्रमणों से सुरक्षा के लिए दुर्गों का निर्माण किया जाता था। विश्वकर्मा - वास्तुशास्त्र के अनुसार स्थान भेद और वास्तु के आधार पर 12 प्रकार के दुर्ग थे।

1) गिरि दुर्ग

2) वन दुर्ग (वनों से घिरा हुआ)

3) जल दुर्ग (नदी या समुद्र में बना हुआ)

4) ईरिन्दुर्ग (रेगिस्तान में)

5) दैव दुर्ग (प्राकृतिक रुप से बना हुआ)

6) एकमुख दुर्ग

7) द्विमुख दुर्ग

8) चतुर्मुख दुर्ग - अन्तिम तीनों दुर्ग नदी या समुद्र के किनारे बनाए जाते थे तथा इनमें क्रमशः 1, 2 तथा 4 द्वार होते थे।

9) कूर्म दुर्ग - इसका निर्माण शत्रु को धोखा देकर पकड़ने लिए होता था तथा यह वन में या पर्वत की तलहटी में बनाया जाता था।

10) पारावत दुर्ग - यह ऐसा दुर्ग होता था, जो वन या पर्वत जैसे सुरक्षित स्थान में बनाया जाता था इसका उपयोग युद्धकाल में अस्थायी रूप से आराम करने के लिए किया जाता था एवं इसमें लम्बे समय तक रहने के लिए खाद्य सामग्री होती थी।

11) प्रभु दुर्ग

12) युद्ध दुर्ग - इसमें भूमिगत मार्ग और सीढियाँ होती थी जिनमें राजा की इच्छानुसार नागरिक रहते थे। समरांगणसूत्रधार में भी ऐसे बहुत से दुर्गों के उदाहरण है परंतु भोज ने "युक्तिकल्पतरु" में प्राकृतिक एवं कृत्रिम दो प्रकार के दुर्गों का वर्णन किया है। प्राकृतिक दुर्ग सुरक्षा की मरुस्थल और नदी आदि आवृत थी। कृत्रिम दुर्ग में गवाक्षों युक्त सुरक्षा दीवारें एवं चारों और खाई होती थी ।

9.6 जल सिंचाई -

वेदों में सिंचाई के लिए उचित प्रयत्न करने का निर्देश है। ऋग्वेद में जल के 2 प्रकार बताए गए है, वे है खनित्रिमा एवं स्वयंजा -

या आपो दिव्या उत वास्रवन्ति

खनित्रिमा उत वा याः स्वयंजाः।

(ऋग्वेद 7/49/2)

नदी का जल 'स्वयंजा' एवं कूपादि के जल 'खनित्रिमा' कहा जाता है। कूप से जल निकालने की प्रक्रिया ऋग्वेद में बताई गई है। नाली बनाकर जल खेत में पहुँचाया जाता था।

कृषि पराशर में नलारोपण के बारे में बताया है इसके द्वारा जलाभाव में सिंचाई का कार्य किया जाता था।

अमरकोश (600 ई.) में क्षेत्रों का 2 प्रकार से विभाजन किया गया है - (देवमातृका) वे क्षेत्र जिनमें सिचाई वर्षा से होती है तथा (नदी मातृका) वे क्षेत्र जिनमें सिचाई नदियों से होती हैं। नीतिसार में भी मानव निर्मित सिचाई साधनों का उल्लेख हैं।

इनके अतिरिक्त मैगस्थनीज के 'इण्ड़िका' में 'कौटिल्य' के 'अर्थशास्त्र' के आधार पर तड़ाग (तालाबों), कूप (कूओं), वापियों (बाड़ियों) और नदियों के जल द्वारा पीने के पानी की व्यवस्था तथा सिंचाई की नहरों आदि का वर्णन भी पाया जाता है।

9.7 प्राचीन भारत में जल प्रबन्धन -

प्राचीन काल से ही भारत में जल प्रबन्धन की परम्पराएँ रही हैं। सिंचाई, पेयजल एवं अन्य कार्यों हेतु कृत्रिम एवं प्राकृतिक जल स्रोतों कुआँ, तालाब, नहरों, टैंकों, झीलों, नदियों का जल प्रयोग किया जाता था।

अदेवमातृको रम्यः श्वापदैः परिर्वाजतः ।

कच्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव ॥

(रामायण 2.94.39)

रामायण में भी जल प्रबन्धन का उल्लेख मिलता है कोशल देश की 'अवदेवमातृका' अर्थात् वर्षा के जल पर निर्भर न रहने वाले देश के रुप में प्रशंसा की गई है, इससे यह स्पष्ट होता है कि वहाँ के लोग जलापूर्ति के लिए मानव निर्मित जलस्रोतों का उपयोग करते थे।

कच्चिद्राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहन्ति च।

भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका ॥

(महाभारत 2.5.67)

महाभारत में युधिष्ठिर की सभागृह में सिंचाई के मानव निर्मित जल स्रोतों नहरों, झीलों आदि की चर्चा का उल्लेख है। सिंचाई के इन जलस्रोतों को निश्चित दूरी पर बनाने का उल्लेख किया गया है ।

सेतुबन्धः सस्यानां योनिः।

नित्यानुषक्तो हि वर्षगुणलाभः सेतुवापेषु।

(वर्षगुणलाभः वृष्टिरसाध्यसस्यफलाधिगमः।)

(कौटिल्य अर्थशास्त्र 7.14)

कौटिल्य अर्थशास्त्र में फसलों की सिंचाई के विषय में बताया गया है, जलस्रोतों से सिंचाई उतनी ही लाभदायक होती है जितनी वर्षा के जल द्वारा की जाती है।

महतः स्थलादल्पमौदकं श्रेयः।

सातत्यादवस्यितत्वात् फलानाम्।

(स्थलं वृष्टि मात्रजललभ्यम्। औदकं सदाजलसरोयुतं नदीयुक्तं च।)

(कौटिल्य अर्थशास्त्र 7.11)

कौटिल्य अर्थशास्त्र में वर्षा जल से सिंचाई पर न निर्भर रहने वाले एवं जलस्रोतों के द्वारा सिंचाई करने वाले देश का समृद्ध देश के रुप में उल्लेख किया है।

प्रश्नावली

1) ओखली का उपयोग किस कार्य में किया जाता है ?

2) जल शुद्ध करने उपाय लिखिए ।

3) वर्षामापक यन्त्र के बारे में बताइए।

4) प्राचीनकालीन सिंचाई पद्धति के बारे में बताइए।

अध्याय - 10

भारतीय आहार पद्धति

10.1 हितकारी एवं अहितकारी आहार -

हितकारी आहार ऐसे आहार जिसका सेवन करने से आरोग्य की प्राप्ति होती है हितकारी आहार कहलाते हैं।

तत्र, एकान्तहितानि जातिसात्म्यात् सलिलघृतदुग्धौदनप्रभृतीनि।
एकान्ताहितानि तु दहनपचनमारणादिषु प्रवृत्तान्यग्निक्षारविषादीनि ॥
संयोगादपराणि विषतुल्यानि भवन्ति।
हिताहितानि तु यद्वायोः पथ्यं तत्पित्तस्यापथ्यमिति॥

(सु. सू. 20.4)

जल, घृत, दुग्ध, चावलों का भात ये द्रव्य मनुष्य जाति की हित की दृष्टि से जन्म से ही हितकारी है। दहन, पाचन आदि कार्यों में अग्नि, क्षार और विष अहितकारी होते हैं । संयोग के कारण अच्छे द्रव्य भी विषतुल्य हो जाने से अहितकारी है।

रक्तशालिषष्टिककङ्गुकमुकुन्दकपाण्डुकपीतकप्रमोदककालकासनपुष्पककर्दमकशकु
नाहृतसुगन्धककलमनीवारकोद्रवोद्दालकश्यामाकगोधूमवेणुयवादयः।
गव्यं घृतं सैन्धवदाडिमामलकमित्येष वर्गः सर्वप्राणिनां सामान्यतः पथ्यतमः॥

(सु.सू. 20.5)

लाल चावल, षष्टिक (60 दिन में पकने वाले), चावल कङ्गुक (काङ्गुनी) ,मुकुन्दक (काले साँठी), पाण्डुक (पीले धान्य), पीतक, प्रमोदक, कालक, असनक, पुष्पक, कर्दयक,शकुनाहृत, गन्धक, कलम, नीवार धान्य, कोद्रव (कोदो), उद्दालक (वनकोदो), श्यामाक, गेहूँ, वेणुयवादि धान्य-विशेष, गौ का घी, सैन्धव लवण, अनारदाने और आँवले आदि पदार्थों वाला वर्ग सर्वप्राणियों के लिए सामान्यतया अधिक हितकारी है।

एकान्तहितान्येकान्ताहितानि च प्रागुपदिष्टानि।

हिताहितानि तु यद्वायोः पथ्यं तत्पित्तस्यापथ्यमिति ॥

(सु.सू. 20.7)

कुछ द्रव्य एकान्त हितकारी होते हैं जैसे पानी, कुछ द्रव्य एकान्त अहितकारी होते हैं जैसे अग्नि अहितकारी आहार ऐसे आहार जिनका सेवन करने से शरीर अस्वस्थ हो जाता है अहितकारी आहार कहलाते है।

संयोगतस्त्वपराणि विषतुल्यानि भवन्ति।

यद्यथा वल्लाफलकवुककरीराम्लफललवणकुलत्थपिण्याकदधितैलविरोहिपिष्टशुष्क शाकाजाविकमांसमद्यजाम्बवचिलिचिममत्स्यगोधावराहांश्च नैकध्यमश्नीयात् पयसा।

(सु.सू. 20.8)

कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जो अन्य पदार्थों के साथ संयोग करने से विषतुल्य हो जाते हैं। जैसे - वल्ली (लता) पर लगने वाले फल कूष्माण्ड आदि कवक (छत्रक) निम्ब्वादि अम्ल फल, नमक, कुलथी, तिल की खली, दही, तैल, अङ्कुरित धान्य, सूखे शाक,जामुन के फल इन पदार्थों में किसी को भी दुग्ध के साथ मिलाकर सेवन नहीं करना चाहिए। जब दो पदार्थों के संयोग होने से भिन्न गुणधर्म वाला एक तीसरा ही पदार्थ उत्पन्न हो जाय, और वह शरीर पर अहित प्रभाव करे उसे संयोग विरुद्ध कहते हैं।

10.2 आहार विधि -

अन्नपान मन को बल प्रदान करता है, शरीर की सम्पूर्ण धातुओं के समुदाय, बल, वर्ण एवं इन्द्रियों में प्रसन्नता लाने वाला है इससे विपरीत रूप से किया गया अन्नपान अहितकर होता है।

शूकधान्यवर्ग-

सभी धान्यों में, लाल धान्य सबसे श्रेष्ठ होता है, यह प्यास को दूर करता है और त्रिदोष का शामक है इससे न्यून गुण 'महाशालि' और इससे न्यूनगुण 'कलम' धान का होता है। ऐसा चरक संहिता में कहा गया है।

यवक, हायन, पांसु, वाप्य, नैषधक आदि शालिधान, रक्त शालि के गुण के विपरीत गुण का अनुकरण करने वाले होते हैं।

जौ रुक्ष शीतल, लघु, मधुर, वायु और मल को अधिक बढ़ाने वाला है। शरीर में स्थिरता पैदा करता है। कषाय होता है। बलवर्धक है। कफजन्य विकार को दूर करता है।

गेहूँ टूटे हुए स्थानों को जोड़ने वाला, वातशामक, रस में मधुर और शरीर में स्थिरता प्रदान करता है एवं भारी होता है। 'नान्दी मुखी' और 'मधूली' ये दोनों मधुर और शीतल होते हैं। शूकधान्य वर्ग में चावल, जौ, गेहूँ, ज्वार आते हैं। शमीधान्य वर्ग - मूँग, उड़द, चना, तिल आते हैं।

मूँग, कषाय, मधुर, रुक्ष, हल्का, कफ पित्तनाशक और दालों में सबसे उत्तम होता हैं।

उड़द शुक्रवर्धक, वातनाशक, मधुर रस, बलवर्धक, पुंस्त्व-शक्ति को शीघ्र ही बढ़ाने वाला होता है।

चना, मसूर, खंडिका, हरेणु (मटर) की दाल, रस में मधुर और कषाय सेवन करने पर शरीर में रूक्षता उत्पन्न करने वाला, पित्त कफजन्य रोगों में सूप के लिए या शरीर में लेप करने के लिए उत्तम होती है। इनमें मसूर की दाल सङ्ग्राही होती है और मटर की दाल वातवर्धक होती है।

तिल, स्निग्ध, ऊष्ण, मधुर, कषाय, कटु रस वाला है। त्वचा और केश के लिए लाभकारी, बलवर्धक, वातनाशक, कफ एवं पित्त को बढ़ाने वाला होता है।

शाकवर्ग -

बथुआ, मटर, हरी सब्जियाँ, फलदार सब्जियाँ, भूमिगत सब्जियाँ।

पाढा, शुषा (कसौंची), शटी (कचूर), बथुआ, तीन पतियाँ (चाङ्गेरी) इनके शाक ग्राही (दस्त को बन्द करने वाले) और त्रिदोषनाशक होते हैं, किन्तु बथुआ मल को पतला करने वाला होता हैं।

मकोय का शाक त्रिदोषनाशक, शुक्रवर्द्धक, रसायन, कुष्ठनाशक और मल का भेदन करने वाला होता है। राजक्षवक का शाक त्रिदोष का शामक, मल, मूत्र को बाँधने वाला, विशेषकर ग्रहणी, अर्श के रोगियों के लिए हितकारी होता है।

फलवर्ग -

(मुनक्का, आलूबुखारा, अमरुद, बिल्ब, आम, जामुन)

मुनक्का प्यास, अन्तर्दाह, ज्वर, दमा, रक्तपित, उरःक्षत, क्षयरोग, वात, पित्त, उदावर्त रोग, स्वरभेद, यदात्यय रोग, मुख में तिक्त रस का होना, मुखशोष और कास रोग को शीघ्र दूर करने वाला होता हैं।

जल वर्ग

आकाश से मेघजन्य जल एक ही प्रकार का गिरता है। गिरते हुए आकाश का जल देश – काल के अनुसार गुण या दोष की अपेक्षा करता है।

आकाश से गिरा हुआ जल, समय के अनुसार गमन करने वाले चन्द्रमा, वायु, सूर्य से स्पर्श हो जाने के बाद समीप के पृथिवी में गुण के अनुसार शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष आदि गुणों से युक्त होता है।

नदियों के जल के गुण-हिमालय पर्वत से निकली नदियों के तट पर ऋषि निवास करते हैं अतः वे नदियाँ पुण्या (पवित्र) होती है। उनका जल नदियों के मध्य में रहने वाले पाषाण के टुकड़ों से विच्छिन्न हो जाता है।

जो नदियाँ मलयाचल पर्वत से निकलती हैं, उनमें पत्थर के टुकड़े और बालू बहा करते हैं अतः उनका जल स्वच्छ और अमृत के समान मिश्ट होता है।

पश्चिमी समुद्र में जाने वाली नदियों का जल पथ्य और निर्मल होता है। पूर्वी समुद्र में जाने वाली नदियाँ मन्द वेग से रहती हैं उनका जल गुरु होता है।

गोरस वर्ग (दूध, दही, घृत) -

गौ का दूध रस में मधुर, शीतल, मृदु, स्निग्ध, गाढ़ा, श्लक्ष्ण, पिच्छिल, गुरु, मन्द, प्रसन्नता देने वाला दस गुणों से युक्त होता है।

भैंस का दूध, गाय के दूध से अधिक गुरु और उष्ण होता है। गो के दुग्ध से भैंस के दुग्ध में घृत अधिक होता है। निद्राकारक और अत्यग्निाशक है।

इक्षु वर्ग (ईख, गुड, शक्कर, मधु)

दाँतो से चूसे हुए ईख (गन्ना) के रस का गुण यह शुक्रवर्धक, वीर्य मे शीत, रस में मधुर और कफकारक होता है।

10.3 षड्ऋतु चर्चा -

हेमन्तऋतुचर्चा -

शीत (हेमन्त) ऋतु में जठराग्नि के बलवान होने से मात्रा और द्रव्य में गुरु आहार को पचाने में समर्थ रखती है।

हेमन्त ऋतु में दूध से निर्मित दही, मलाई, रबड़ी, छेना आदि एवं ईखा के विकार (गुड़, राब, चीनी, मिश्री आदि) एवं वसा, तेल, नये चावलों का भात और गर्म जल का सेवन करने से आयु की वृद्धि होती है।

हेमन्त ऋतु में वर्जनीय आहार-विहार, शीतकाल आ जाने पर वातवर्धक एवं लघु अन्न पान, प्रवात (तीव्र वायु), प्रमिताहार (थोड़ा नपातुला भोजन) और जल में घुले सत्तू का सेवन करना चाहिए।

अन्नों में चावल, गेहूँ, ज्वार का सेवन करना चाहिए।

सब्जियों में आलू, गोभी आदि आहार में ग्रहण करना।

शिशिर ऋतु चर्चा -

शिशिर ऋतु में वर्ज्य आहार, शिशिर ऋतु में कटु-तिक्त कषाय रस तथा वातवर्धक, हल्के और शीतल अन्नपान का त्याग कर देना चाहिए। इस ऋतु में गर्म भोजन, गर्म पानी, गर्म द्रव्य आहार में ग्रहण करना चाहिए।

वसन्त ऋतु चर्चा -

वसन्त ऋतु में जौ, पुराना गेहूँ, ज्वार, मसूर की दाल, चना, सरसौं का तेल आहार में ग्रहण करना चाहिए। फलों में सन्तरा, अंगूर का सेवन करना चाहिए।

ग्रीष्म ऋतु चर्या -

ग्रीष्म ऋतु में मीठा चावल, ज्वार, गेहूँ, मसूर दाल, मटर दाल, खीरा ककड़ी, आहार में ग्रहण करना चाहिए। फलों में तरबूज, खरबूज, आम का सेवन करना चाहिए।

वर्षा ऋतु चर्या –

वर्षा ऋतु में सेवनीय आहार - विहार - वर्षाऋतु में खाने-पीने की सभी वस्तुएँ बनाते समय उनमें मधु अवश्य मिला लेना चाहिए। वात और वर्षा से भरे उन विशेष शीत वाले दिनों में अम्ल तथा लवण रस वाले और स्नेह द्रव्यों (घृतादि) की प्रधानता भोजन में रखनी चाहिए।

शरद् ऋतु चर्या -

शरद ऋतु में सेवनीय आहार विहार अच्छी भूख लगने पर रस में, मधुर, गुण में लघु, कुछ तिक्त रस में पित्त को शान्त करने वाले अन्नपान का मात्रापूर्वक सेवन करना चाहिए।

प्रश्नावली

(1) शाकवर्ग के नाम लिखिए।

(2) जब दो पदार्थों को संयोग करने पर उत्पन्न तृतीय पदार्थ शरीर पर अहित प्रभाव करे तो उसे क्या कहेगें ?

(3) हेमन्तऋतुचर्या से क्या आशय है ?

(4) आहार विधि से आप क्या समझते है ?

(5) हितकारी एवं अहितकारी आहार को विस्तारपूर्वक समझाइए ।

महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन (म.प्र.)

(शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार)

द्वारा सञ्चालित एवं प्रस्तावित राष्ट्रीय आदर्श वेद विद्यालय

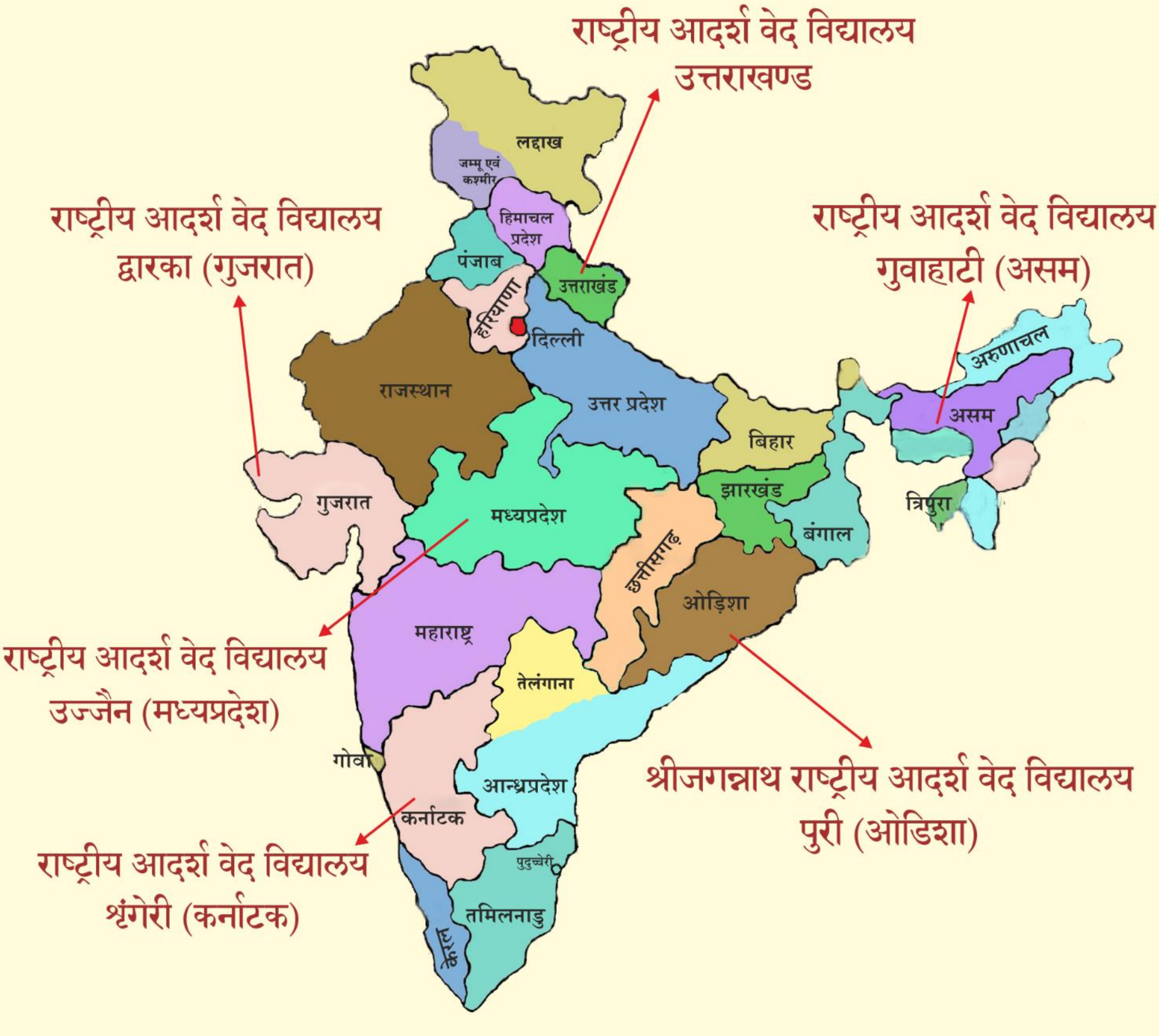

महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन (म.प्र.)

(शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार)

वेदविद्या मार्ग, चिन्तामण, पो. ऑ. जवासिया, उज्जैन - ४५६००६ (म.प्र.)

Phone : (0734) 2502266, 2502254, E-mail : msrvvpujn@gmail.com, website - www.msrvvp.ac.in